chapter. 3

Date :

==========

: तृतीय अध्याय :

: हिन्दी साहित्य में दलित-विमर्श का चित्रण :

==========

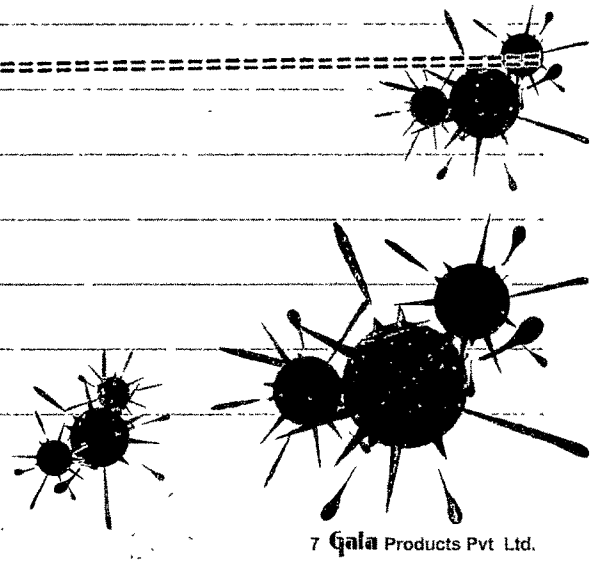

7 Gala Products Pvt Ltd.

: तृतीय अध्याय :

: हिन्दी साहित्य में दलित-विमर्श का चित्रण :

प्रास्ताविक :

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामान्य-सी जानकारी रखने वाला व्यक्ति जानता है कि उसका इतिहास लगभग एक हजार वर्षों का है । इन एक हजार वर्षों के साहित्य को मोटे तौर पर तीन कालखण्डों में विभक्त किया गया है -- आदिकाल , मध्यकाल और आधुनिककाल । मध्यकाल को फिर दो खण्डों में विभक्त किया गया है -- भक्तिकाल और रीतिकाल । इस अध्याय में हमारा उपक्रम हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श का चित्रण कहां-कहां और किस रूप में हुआ है , उसे रेखांकित करना है । आदिकाल और मध्यकाल में तो प्रायः काव्य (कविता) साहित्य उपलब्ध होता है । आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव हुआ और उसके साथ ही गद्य के अनेक रूप सामने आये । अतः

आधुनिक काल में दलित-विमर्श का चित्रण प्रायः सभी काव्य-रूपों में उपलब्ध होता है । शोध-प्रबंध का विषय कहानी साहित्य से सम्बद्ध है , अतः कहानी को यहां नहीं लिया गया है , क्योंकि परवर्ती अध्यायों में उस पर विस्तार से विचार किया गया है ।

आदिकाल के साहित्य में दलित-विमर्श का चित्रण :

जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय में निर्दिष्ट किया गया है कि मराठी में दलित-आंदोलन को आगे बढ़ाने का काम मराठी के दलित वर्ग के साहित्यकारों द्वारा हुआ है । वहां दलित-शक्ति का साहित्य में यथार्थ चित्रण प्रायः उस वर्ग से सम्बद्ध लेखकों और कवियों ने किया है । हिन्दी में दलितों द्वारा ऐसा कोई अलग आंदोलन तो नहीं चलाया गया है , किन्तु दलित-जीवन को लेकर , उसके सामाजिक धार्मिक , आर्थिक प्रश्नों को लेकर , उन पर हो रहे अत्याचार और अन्याय को लेकर , उनके शोषित उपेक्षित प्रश्नों पर चिंतन अवश्य हुआ है । हिन्दी साहित्य में यह प्रवृत्ति आदि काल से पायी जाती है ।

आदिकाल के अन्तर्गत सिद्धों के साहित्य में हमें स्थापित हितों के प्रति विद्रोह के स्वर सुनायी पड़ते हैं । सिद्ध कवियों की संख्या चौरासी की है । इनमें से अधिकांश सिद्ध कवि शूद्र या दलित जातियों के थे । उनके प्रतिनिधि कवि सरहपा ब्राह्मण थे , परन्तु उन्होंने "सर" अर्थात् बाण बनाने वाले की कन्या से विवाह किया था । इस प्रकार जातिप्रथा के प्रति उनके मन में जो विरोध या विद्रोह है वह उनके इस व्यवहार से ही स्पष्ट हो जाता है । सभी सिद्ध कवियों ने हिन्दू धर्म में व्याप्त बाह्याचारों , बाह्याडंबरों और जातिप्रथा का विरोध किया है । उनका यह विरोध या विद्रोह तत्कालीन सामंतवादी ,

धार्मिक आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है । ब्राह्मणों की निर्मम सत्ता के कारण जनसाधारण उनके दमन और शोषण का शिकार होते थे । अतः सिद्ध साहित्य में ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों का खुलकर विरोध मिलता है । ऐसे दलित या शूद्र सिद्ध कवियों में कंकालिपा , चमारिपा , खडगपा , धनगपा , शीलपा , छत्रपा, ततैपा , कुसुलिपा , महिलापा ४ , राहुलपा , धोकरिपा, चेकुलपा, निर्गुणप्राभिखनपा , कलकलपा , धहुरिपा , कमलपा , सर्वभक्षपा , पुतुलिपा , उपानहपा , अनगपा आदि मुख्य हैं ।[1]

इनके अतिरिक्त सरहपा जैसे कुछ सिद्ध मिलते हैं जिन्होंने शूद्र वर्ण की स्त्रियों से विवाह किये थे । इस प्रकार सिद्धों में या तो शूद्र या दलित वर्ग के कवि थे या फिर सरहपा जैसे विद्रोही ब्राह्मण । हिन्दू जीवन-पद्धति वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी । इन सिद्ध कवियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था के विरूद्ध प्रखर और प्रकट विद्रोह व्यक्त किया है । इन सिद्ध कवियों ने या सिद्धों ने विविध शास्त्रों में अभूतपूर्व उन्नति की है , लेकिन निम्नवर्ग की जनता के लिए उसमें टोना-टोटका , भूत-प्रेत , तंत्र-मंत्र इत्यादि भी मिलते हैं । वैदिक धर्म के जटिल कर्मकाण्ड के विरोध में बौद्धधर्म आया है । आगे चलकर बौद्धधर्म के जो अनेक संप्रदाय विकसित हुए उनमें मंत्रयान, सहजयान आदि मुख्य हैं । सिद्धों का संबंध इनसे है । सिद्ध साधक अपनी साधना में अनुभूति पर विशेष जोर देते हैं । बौद्धों के निवृत्तिमूलक दुःखवादी रूप का निरसन करके उसके स्थान पर उन्होंने सुख , आनंद और भोग को स्थापित किया । वे त्याग द्वारा नहीं , अपितु भोग द्वारा मुक्ति की बात करते हैं । शूद्रों और स्त्रियों के प्रति उनके दृष्टिकोण में उदारता पायी जाती है । यही कारण है कि उनकी धर्म-साधना में उन्होंने न केवल शूद्रों और स्त्रियों को समाविष्ट किया , बल्कि उन्हें महत्वपूर्ण स्थान भी दिया । इसी कारण इसमें शूद्र कवि मिलते हैं , जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं ।

सिद्धों में जातिभेद का भी स्पष्ट निषेध मिलता है । जाति-भेद निषध का एक कारण यह भी था कि समाज के एक वर्ग में ब्राह्मणों का आधिपत्य खूब बढ़ गया था और जाति-व्यवस्था अधिकतम संकीर्ण हो चली थी । अतः बौद्धधर्म से निकले हुए इस सिद्ध मार्ग में जाति-प्रथा के खिलाफ़ विरोध या विद्रोह का होना स्वाभाविक है । सिद्धों ने बाह्याचार और जातिभेद को लेकर जो विद्रोहात्मक आंदोलन चलाया था उसके कारण निम्न जातियों में एक विशेष चेतना का संक्रमण हुआ था । इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सिद्धों ने दलितों को उनकी हीनता , जातिभेद की विषमता और बाह्याचार के ढकोसलों के प्रति सजग बनाकर उनमें एक विद्रोही भावना की पृष्ठभूमि को तैयार किया था ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन सिद्धों के विषय में लिखा है -- " बौद्धधर्म ~~विकृत~~ विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था । इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुंच गया था । वे बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे । चौरासी सिद्ध इन्हींमें हुए हैं । " [2]

डा. धर्मवीर भारती ने अपने ग्रन्थ "सिद्ध साहित्य " में शुक्लजी के उक्त मत की आलोचना करते हुए लिखा है -- " आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपनी उस शुद्धतावादी दृष्टि के लिए प्रख्यात थे । उन्होंने भट्टाचार्य के मत का आश्रय लेते हुए अपने इतिहास में इन सिद्धों के साहित्य को बौद्धधर्म की विकृति और अस्वस्थ अवस्था का साहित्य बताया और इन सिद्धों पर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने इस बौद्ध वामाचार को अपनी चरम सीमा पर पहुंचा दिया और न केवल स्वतः वे इस पाप-पंक में गिरे , वरन् जनता को भी उसमें गिराना चाहा , अतः देशी भाषा में रचना की ताकि जनता पर उसका संस्कार पड़ सके । " [3]

किन्तु डा. धर्मवीर भारती ने प्रमाणित किया है कि न तो ये सिद्ध कवि शाब्दिक अर्थों में वामाचारी थे और न किसी पाप-पंक में लिप्त थे, बल्कि समाज में ~~xxxxx~~ उनको सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। सिद्धों के साहित्य की विशेषता यह रही है कि उन्होंने परंपरागत निर्वाण भावना को हेय मानकर महासुख की अनुभूति को प्रधानता दी है। सिद्धों ने महासुख को प्राप्त करने की प्रणाली, उपलब्धि और उसकी अनुभूति का वर्णन नर-नारी के प्रणय के आधार पर किया है, जिसमें चुंबन, आलिंगन, मैथुन आदि शब्दों का प्रयोग इतनी बार हुआ है कि उनके सांकेतिक भाव एवं अर्थ न समझने वाले व्यक्ति उसका अनर्थ करके उन पर अश्लीलता का आरोप लगा सकते हैं। उनके पदों का ~~xxxxx~~ शब्दार्थ भी वैसा ही प्रतीत होता है, किन्तु उसका गूढ़ भाव नितान्त भिन्न और आध्यात्मिक है। यहां सरहपा के काव्य से एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

/1/ जेहिमन पवन न संचरइ रवि ससि नहि पवेश।
तहिबट चित्त विसाम करूं सरह कहिय उवेश॥
/2/ घोर अंधारे चन्द्रमणि जिमि उज्जोइ करेइ।
परम महासुख एखु कणे दुरिय असेस हरेइ॥
/3/ जीवंतह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ।
गुरू उपएसें विमलमइ सो पर धण्णा कोइ॥ [4]

इस प्रकार सिद्धों ने "शून्य" और "महासुख" की विभावना दी। उन्होंने लोगों को बाह्य कर्मकाण्डों से निकालकर आंतरिक योग-साधना की ओर प्रवृत्त किया। सिद्धों की यह साधना इन मानों में अलग पड़ती है कि जहां पहले धार्मिक कर्मकाण्डों पर एक वर्ग-विशेष का अधिकार था उसके स्थान पर उनकी साधना में सभी प्रकार के लोगों को स्थान था। इस प्रकार उन्होंने ब्राह्मणों की धार्मिक "मोनोपोली" को तोड़ा।

सिद्ध-साधना में न केवल छोटी जाति के लोग आये , बल्कि इन छोटी जातियों में से कई सिद्धों की कोटि में भी पहुंचे । चौरासी सिद्धों में ऐसे कई सिद्ध हैं जो शूद्र जाति के थे । उनके नाम पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिए गए हैं । अभिप्राय यह कि एक विशेष प्रकार की सिद्धि तक पहुंचने का विशेषाधिकार जो एक वर्ग विशेष को था उसके प्रति यहां विद्रोह का भाव दृष्टिगोचर होता है । कोई भी व्यक्ति अपनी वैयक्तिक साधना और शक्ति से आध्यात्मिक ऊंचाइयों का स्पर्श कर सकता है । यह उनका महान प्रदान है कि छोटी जातियों के लोगों में भी उन्होंने अस्मिता का भाव जगा दिया । इस प्रकार ऊंची-नीची श्रेणियों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था पर और उससे निःसृत जाति-व्यवस्था पर उन्होंने कुठाराघात किया । पैतृक व्यवसाय परंपरा और परंपरागत विवाह-पद्धति पर भी उन्होंने आघात किया । सरहपा ब्राह्मण होते हुए भी अपने परंपरागत कार्य को छोड़कर सर{ बाण{ बनाने का कार्य करने लगे , इतना ही नहीं , उन्होंने उस जाति की कन्या से विवाह भी किया । इस तरह भारतीय परंपरागत सामन्ती व्यवस्था को तोड़नेका उन्होंने शक्तिभर प्रयास किया ।

सिद्धों के पश्चात् नाथ-संप्रदाय के नाथ आते हैं । एक प्रकार से नाथ-संप्रदाय सिद्ध-संप्रदाय का ही विकसित और पल्लवित रूप है । नाथों ने सिद्धों के निरिश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य के रूप में प्रतिष्ठित किया । साधना के पथ में उन्होंने हठयोग को अपनाया । मूलतः हठयोग देहशुद्धि का एक साधन है । हठयोग के द्वारा देहशुद्धि करके प्राणायाम से मन को एकाग्र किया जा सकता है । साधक जब समाधिस्थ होता है तो उसमें कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है । उस प्रकार समाधिस्थ होकर साधक शून्य-प्रदेश में पहुंच जाता है । जिसको वे ईश्वर का निवास-स्थान समझते हैं । अभिप्राय यह कि बाह्य तरीकों से पूजा-पाठ इत्यादि से ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती । ईश्वर-प्राप्ति का साधन तो अन्तःसाधना है । अतः

ईश्वर-प्राप्ति के बाह्य साधनों को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ध्यान रहे कि वैदिक धर्म या सनातन धर्म बाह्य धार्मिक अनुष्ठानों और पूजा-पाठ को महत्व देता है। सिद्धों और नाथों में उसका विरोध दृष्टिगोचर होता है। पुस्तक विद्या और वेद-शास्त्र के अध्ययन को भी उन्होंने व्यर्थ ठहराया है। स्पष्ट है कि जिन उपादानों से वे स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे उन उपादानों पर ही उन्होंने चोट की है। अतः स्थान-स्थान पर वे शास्त्रज्ञ विद्वानों का मजाक उड़ाते हैं। कोई भी व्यक्ति, किसी भी जाति का व्यक्ति, साधना के द्वारा "नाथ-पद" को प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था को निरर्थक घोषित कर देने के कारण निम्न वर्ण-वर्ग की जनता इस संप्रदाय की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुई। एकेश्ववाद के कारण हिन्दु तथा मुसलमान दोनों धर्मों पर नाथ-संप्रदाय का प्रभाव पड़ा है। गोरखनाथ, मछन्दरनाथ, चर्पटीनाथ आदि नाथ कवि इस संप्रदाय में हुए हैं। उन्होंने बाह्य कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए आंतरिक साधना-पक्ष पर विशेष बल दिया और आचरण की शुद्धता को ही श्रेष्ठ बताया।

नाथ-साहित्य के कुछ उदाहरण यहाँ पर द्रष्टव्य है। गोरखनाथ ने आचरण की शुद्धता पर बल दिया है। कहना सरल है, उस पर चलना कठिन है और करनी के बिना कथनी का कोई मतलब नहीं है। इस बात को उन्होंने निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में स्पष्ट किया है —

"कहिबा सुहेली रहणि दुहेलि, कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ्या-गुण्या सुआ बिलाई खाया, पण्डित के हाथौं रह गयी पोथी।।

× × ×

कहणि सुहेलि रहणि दुहेलि, बिन खायां गुड. मीठा।
खायी हिंग कपूर बखाणै, गोरख कह सब झूठा।। [5]

चर्पटीनाथ ने भी ऐसे ढोंगी साधुओं पर प्रहार किया है। इसमें उन्होंने नाथों को भी नहीं बख़्शा है। उनमें भी जो ढोंग-ढकोसलेबाज हैं उनकी पोल वे निम्नलिखित पंक्तियों में खोलते हैं :—

" मांगे भिच्छा भरि भरि खाहिं।
नाथ कहावैं मरि मरि जाहिं ।।
दिन करि भिच्छा, रात्यूं भोग।
चरपट कहै बिगोवै योग ।। " [6]

मध्यकाल (भक्तिकाल) :

नाथ साहित्य के पश्चात् दलित-चेतना हमें निर्गुण संप्रदाय के कबीर आदि संत कवियों में मिलती है। भक्तिकाल का प्रधान स्वर तो भक्ति का है, किन्तु ईश्वर-विषयक उनकी अवधारणाओं में अन्तर है। इस अवधारणा के कारण भक्त कवियों में सगुण और निर्गुण की दो स्पष्ट धाराएं मिलती हैं। संत-साहित्य का संबंध निर्गुण धारा से है। "निर्गुण" शब्द "निः + गुण" के योग से बना है। अर्थात् निर्गुण संप्रदाय में ईश्वर को लक्षण और गुणधर्मों से रहित माना गया है। ईश्वर का कोई आकार-प्रकार नहीं होता। वह मृत्युधर्मा नहीं होता। वह न किसीका पुत्र, न किसीका पति, न किसीका भाईबन्धु होता है। वह कण-कण में, सर्वत्र स्थावर-जंगम में परि-व्याप्त रहता है। वह अरूप निराकार और सर्व-व्यापक होने के कारण मूर्ति-पूजा, मंदिर, तीर्थ-स्थान आदि से उसका स्पष्ट-तया देखा जा सकता है।

वस्तुतः मध्यकाल में शूद्र जातियों पर जो अनेक प्रकार की निर्योग्यताएं (डिसएबिलिटीज़) थोपी गयी थीं, इसके परिणाम-स्वरूप ही यह प्रतिरोध दृष्टिगोचर होता है। शूद्रों पर शास्त्र-वचन, पठन, श्रवण पर प्रतिबन्ध था; इसी कारण नाथों और निर्गुणिया संतों में पुस्तक-विद्या का विरोध मिलता है। धार्मिक

निर्योग्यताओं के नाम पर उनका मंदिर-प्रवेश वर्जित था । पूजा-पाठ वे कर नहीं कहीं सकते थे । अतः उन्होंने विद्रोहात्मक भूमिका अदा करते हुए उन चीजों और वस्तुओं पर प्रहार किये जिनके संदर्भ में समाज का ~~xxxxxxxxx~~ नकारात्मक रवैया था । ये बिलकुल अकारण नहीं है कि तमाम-तमाम सिद्धों , नाथों , निर्गुणिया संतों ने बाह्य धार्मिक अनुष्ठानों पर करारे प्रहार किये हैं । नामदेव की निम्नलिखित पंक्तियां इस संदर्भ में गौरतलब है —

" पांडे ! तुमरी गाइत्री लोधे का खेतु खाती थी ।
लै करि ठेगा टगरी तोरी , लांगत लांगत जाती थी ।।
पांडे ! तुमरा महादेव धउले बलद चडिया आवतु देखिआ था ।
मोदी के घर खाणा पाका , वाका लड़का मरिआ था ।।
पांडे ! तुमरा रामचन्दु सो भी आवतु देखिआ था ।
रावन सेती सरवर होई घर की जोइ गवाई थी ।। " [7]

इस धार्मिक-सामाजिक विद्रोह का ~~xxxx~~ सर्वाधिक प्रखर स्वर निर्गुणिया संतों में कबीर में मिलता है । कबीर एक युगान्त-कारी कवि हैं । धर्म और शास्त्र के नाम पर चलनेवाले ढकोसलों का पर्दाफाश करने में उनका कोई सानी नहीं है । निर्भीकता और खुददारी उनके व्यक्तित्व की पहचान है । अपनी बातों पर वे चट्टान की मानिंद अटल हैं । यह कितने आश्चर्य की बात है कि ज्ञानाश्रयी धारा का यह परम ज्ञानी कवि अनपढ़ और निरक्षर था । किन्तु उन्हें अशिक्षित या अदीक्षित नहीं कह सकते क्योंकि संसार की खुली युनिवर्सिटी के वे सके -सफे पढ़ गये थे । तभी तो वे कहते हैं — " सब कहते पुस्तक की लेखी , मैं कहता आंखिन की देखी " । हिन्दुओं और मुसलमानों को उनके ढोंग और ढकोसलों के लिए समान रूप से फटकारने वाला , मस्तमौला , शाहों का शाह और फकीरों का फकीर यह कवि कबीर दृष्टि की एक विराटता को लेकर मध्यकाल में अवतरित हुआ था । उनके संदर्भ

में डा. पारूकान्त देसाई लिखते हैं — " कबीर नाम है एक चेतना का , कबीर नाम है एक संदेश का , कबीर नाम है एक जेहाद का जो सारे भेदों को ताक पर रखकर इन्सान और इन्सान के बीच खींची गयीं दीवारों को ढहोने में सदियों से लगा हुआ है । हिन्दी का प्रथम दार्शनिक कवि , प्रथम सामाजिक चेतना का कवि , प्रथम सामाजिक न्याय (सोसियल जस्टिस) का कवि , प्रथम व्यंग्य कवि और प्रथम प्रखर दलित कवि निश्चयतः कबीर है ही हैं । " 8

कबीर घट-घट निवासी निरंजन-निराकार ईश्वर में विश्वास रखते हैं , अतएव मुर्तिपूजा तथा धर्म के अन्य बाहरी विधि-विधानों , बाह्याडंबरों , ढकोसलों तथा अन्धविश्वासों पर करारे प्रहार करते हैं । यथा --

" दुनिया ऐसी बावरी पत्थर पूजन जाय ।
घर की चक्की ना पूजे रोज दले रोज खाय ।। "

या

" पत्थर पूजन प्रभु मिले तो मैं पूजो पहार । " 9

बाह्याचारों तथा ढकोसलों पर वे बुरी तरह से टूट पड़ते हैं —

" न्हाये धोये क्या भया जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहे , धोये बास न जाय ।। "
" केसन कहा बिगारिया जो मूंडो सौ बार ।
मन को कहा न मूडिये जामें विषय विकार ।। " 10

ऐसा नहीं है कि कबीर हिन्दुओं को ही फटकारते हैं । वे मुसलमानों को भी उनके ढकोसलों पर आडों हाथों लेते हैं । इस दृष्टि से हम कबीर को अपनी परंपरा का प्रथम धर्म-निरपेक्ष (सेक्युलर) कवि भी कह सकते हैं । यथा --

" कांकर-पाथर जोरिकै मस्जिद लेई चुनाय ।
ताचढ़ि मुल्ला बांग दे , बहिरो भयो खुदाय ।। " 11

कबीर ने वैष्णवों के अहिंसावाद का समर्थन करते हुए मुस्लिमों के धार्मिक हिंसावाद का विरोध इन शब्दों में किया है --

" दिन भर रोजा रखत है , रात हनत है गाय ।
यह तो खून यह बन्दगी , कैसे खुशी खुदाय ।। "

और

" बकरी खाती पात है , ताकी निकली खाल ।
वा बकरी को खात जो ताको कौन हवाल ।। " 12

इस प्रकार वे मुसलमानों को फटकारने में किसी प्रकार का लिहाज़ नहीं करते । उनके यहां भी जो ढोंग - ढकोसले चलते हैं उनकी कटु से कटु प्रकार की आलोचना करने में वे किसी प्रकार की चूक नहीं करते । यहां गौरतलब है कि कबीर यह सब तब कह रहे हैं जब दिल्ली के ~~सिंहासन~~ तख्त पर सिं सिकंदर लोदी जैसे धर्मचुस्त कट्टतावादी बादशाह का शासन था । कबीर न केवन इन ढोंग - ढकोसलों और अन्ध-विश्वासों पर करारे प्रहार करते थे , बल्कि अपने आचरण द्वारा भी वे इसे प्रमाणित करते थे कि उनकी कथनी-करनी में कोई अंतर नहीं है । तत्कालीन मान्यता के अनुसार ऐसा माना जाता था कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है और मगहर में मरने से गधे का अवतार मिलता है । इस मान्यता या अंधविश्वास का खंडन करने के लिए अपने अंतिम समय में वे जानबूझ कर मगहर चले जाते हैं । और वहीं पर अपने प्राण त्यागते हैं । संक्षेप में कबीर एक युगान्तकारी , क्रान्तद्रष्टा कवि हैं । उनके व्यक्तित्व के विषय में डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -- " वे सिर से पैर तक मस्तमौला , स्वभाव से फक्कड़ , आदत से अक्खड़ , भक्त के सामने निरीह , भेषधारी के आगे प्रचण्ड , दिल के साफ , दिमाग के दुरुस्त , भीतर से कोमल , बाहर से कठोर , जन्म से अस्पृश्य और कर्म से वंदनीय थे । " 13
कबीर आचरण की शुद्धता , मन की पवित्रता पर बल देते हैं --

" कबिरा मन निर्मल भया ज्यों गंगा का नीर ।
पाछे पाछे हरि चले कहत कबीर कबीर ।।" [14]

आज जिस तरह दोनों तरफ के कट्टरतावादी (फण्डामेंटालिस्ट) सर उठा रहे हैं और समाज की समन्वयवादी प्रवृत्ति पर चोट कर रहे हैं ; पुनः धर्म के नाम पर ढोंग-ढकोसलों की बाढ़ आ गयी है और धर्म के नाम पर "छद्म-धर्म " (श्यूडो-रिलिजियन) की दुहाई दी जा रही है , मंदिर-मस्जिद के झगड़े देश को पुनः खण्ड-खण्ड करने जा रहे हैं , ऐसे समय में कबीर जैसे कवि की अत्यं प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है ।

कबीर के उपरांत रैदास , धर्मदास , गुरु नानक , दादू-दयाल , सुंदरदास , मलूकदास , अक्षर अनन्य , गरीबदास , निश्चल-दास , जगजीवनदास , पल्टूदास , बुल्ला साहब , दयाबाई , सहजोबाई आदि निर्गुण शाखा के कवि हुए हैं । इन सब कवियों ने भी कबीर की भांति धर्म के बाह्य विधि-विधानों और ढकोसलों का विरोध किया है । इनमें धर्मदास और सुंदरदास ये दो वैश्य थे । बाकी तमाम कवि छोटी-मोटी जातियों के हैं । रैदास का नाम मराबाई बड़े आदर के साथ लेती थीं । इस आधार पर कुछ लोग उनको मीराबाई के गुरु भी मानते हैं । इनके चालीस पद×गुरु "आदि गुरु-ग्रन्थसाहब" में संकलित हैं ।[15] धर्मदास कबीर के प्रधान शिष्यों में हैं । उनके ग्रन्थ का नाम "सुखनिधान" है । उनकी वाणियों में कबीर की प्रखरता और कठोरता के स्थान पर सरसता और सरलता मिलती है ।[16] गुरु नानक ने कबीर की निर्गुण उपासना का प्रचार करते हुए पंजाब में सिक्ख धर्म की स्थापना की थी । उनके भजनों और पदों का संग्रह " आदि गुरु-ग्रन्थसाहब " में मिलता है । दादूदयाल भी कबीर के मतानुयायी थे और उनका जन्म गुजरात के अहमदाबाद शहर में हुआ था । उन्होंने "दादू-पंथ" नामक एक

अलग से पंथ भी चलाया । इस पंथ के अनुयायी अपने को निरंजन निराकार ईश्वर के उपासक बताते हैं । गुजरात के अखा की गणना भी संत कवियों में होती है । अखा को गुजरात का कबीर कहा जाता है । अखा की वाणी को डा. रमणलाल पाठक ने "संतप्रिया" नामक ग्रन्थ में संपादित किया है ।[17]

निर्गुण संप्रदाय के संत कवियों में केवल सुंदरदास ऐसे कवि हैं जिनको समुचित शिक्षा प्राप्त थी और जिन्हें काव्य के सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान था । इसीलिए संत-काव्यधारा के अन्य कवियों की तुलना में उनकी भाषा अधिक साहित्यिक और सरस है । उन्होंने सांसारिक रीति-नीति तथा व्यवहार को लेकर कुछ उत्कृष्ट रचनाएं की हैं । उनके ग्रन्थ का नाम "सुंदरविलास" है । मलूकदास का जन्म इलाहाबाद में हुआ था । उनके बारे में अनेक चमत्कारिक दंतकथाएं प्रचलित हैं । उनके "रत्नबोध" और "रत्नखान" नामक दो ग्रन्थ मिलते हैं । उनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से मिलता है । आलसियों के महामंत्र-सा निम्न दोहा उनके द्वारा लिखा गया है —

" अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम ।। "

हालांकि यहां मलूकदासजी का अभिप्राय मनुष्य को काम नहीं करना चाहिए ऐसा कहने का नहीं है । उनका अभिप्राय केवल ईश्वरेच्छा को सर्वोपरि बताने का है ।[18]

इन कवियों के अतिरिक्त गुजरात में भी मध्यकाल में संतों की विस्तृत परंपरा मिलती है । ऐसे कवियों में अखा के अतिरिक्त प्राणनाथ, प्रीतमदास, धीरा भगत, निरांत, भोजा भगत, मनोहर-दास, छोटम आदि मुख्य हैं । गुजरात के संतों की हिन्दी वाणी बहुत ही गहन, गंभीर और बोधप्रद है । समाज के पाखंडियों

और ढकोसलाबाजों को उन्होंने खूब आड़ों हाथ लिया है ।[19]

इन तमाम निर्गुण धारा के कवियों की काव्यगत विशेषताओं को संक्षेप में हम इस प्रकार बता सकते हैं :—

/1/ ये कवि ईश्वर को निरंजन निराकार और अजन्मा मानते हैं । इनके ईश्वर घट-घट निवासी हैं । उनको अन्तःसाधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

/2/ ये कवि धर्म के बाह्य विधि-विधानों , रूढ़ियों , बाह्याचारों , बाह्याडंबरों तथा ढोंग-ढकोसलों का विरोध करते हैं ।

/3/ ये मूर्तिपूजा , तीर्थाटन और मंदिर का भी विरोध करते हैं ।

/4/ वे पुस्तक-विद्या तथा वेद-शास्त्रों को नकारते हैं ।

/5/ वर्णाश्रम व्यवस्था को न मानने के कारण जाति-पांति , ऊंच-नीच की भावना का विरोध करते हैं ।

/6/ राम-रहीम के की एकता पर जोर देते हुए वे एकेश्वरवाद का प्रचार करते हैं ।

/7/ वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर हैं ।

/8/ ये लोग गुरु को करीब-करब× करीब ईश्वर के समान मानते हैं ।

/9/ इस धारा के कवि प्रायः छोटी जातियों के हैं और इनमें शिक्षा का अभाव दिखता है । अतः सत्संग के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया ।

/10/ इनकी भाषा सीधी-सादी , सरल और आडंबररहित है । वे "दोहा" को साखी कहते हैं । साखियां , पद , रमैनी आदि छंद और काव्य-रूप प्राप्त होते हैं । कबीरदास ने धर्म के गूढ़ रहस्यों , योग-साधना तथा व्यंग्य आदि के लिए "उलटबासियों " की रचना की है । इन उलटबासियों के अर्थ को समझने के लिए उनके प्रतीकात्मक अर्थों को समझना पड़ता है । बिना इसके वे अबूझ ही रहती हैं ।[20]

भक्तिकाल के अन्तर्गत इन संत कवियों के काव्य को हम दलित साहित्य के अन्तर्गत इसलिए लेते हैं इन तमाम जातियों को हिन्दू मानते हुए भी सवर्ण हिन्दू उनके साथ बराबरी का व्यवहार नहीं करते थे । बराबरी तो क्या एक तरह से उनके साथ पशुवत् व्यवहार होता था । उनका मंदिर-प्रवेश वर्जित था । शिक्षा उनके लिए वर्जित थी । शास्त्रों का पठन-पाठन तो क्या , बल्कि किसी शास्त्र वचन को सुन लेना भी उनके लिए अपराध था । ये सवर्ण जाति के लोग पशुओं को , कुत्ते-बिल्लियों को तो छू लेते थे , परन्तु इन दलित जातियोंके के लोगों को छूने से भी उनका धर्म भ्रष्ट हो जाता था । दक्षिण में तो यह अस्पृश्यता की भावना और भी जोरों पर थी । और कुछ अस्पृश्य जातियों के लिए निश्चित अन्तर या दूरी का विधान था कि वे उतनी दूरी से ऊंची जाति के लोगों को परछाई मात्र से भ्रष्ट कर सकते थे । कोचीन के गवर्नमिण्ट गेजेट में कोन जातियां कितनी दूरी से ऊंची जाति के लोगों को भ्रष्ट कर सकती थी उसकी बाकायदा सूची दी है । [21]

अतः ऐसी स्थितियों में इन संत कवियों ने दलित जाति के लोगों को एक नयी राह दिखाई कि जिसमें जाति-पांति और ऊंच-नीच के भेदभाव को छोड़कर सभी को प्रवेश था । छोटी जातियों के लिए मंदिर-प्रवेश वर्जित था और शास्त्र-ज्ञान वर्जित था । अतः इन दोनों को नकारते हुए उन्होंने सच्चे धर्म का रास्ता दिखाया । इस प्रकार छोटी जातियों में आत्म-विश्वास का भाव पैदा किया । उनमें अस्मिता और चेतना को जगाया । उनको पहली बार यह अहसास दिलाया कि वे पशु नहीं मनुष्य हैं और मनुष्यों की तरह इज्जत- आबरू के साथ जीने का उन्हें भी पूरा-पूरा अधिकार है । वस्तुतः देखा जाए तो यह तत्कालीन समाज के प्रति खुला विद्रोह है । आज के दलित-आंदोलन की पृष्ठभूमिका निर्माण इन कवियों द्वारा हुआ है ।

अतः भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा को जितना भी महत्व दिया जाए कम है । कबीर के तो पर्याप्त उदाहरण ऊपर दिये जा चुके गये हैं, अतः यहां अन्य निर्गुणिया संत कवियों के कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं —

/1/ " अखिल खिलै नहिं, का कह पंडित
कोई न कहै समुझाई ।।
अबरन बरन रूप नहिं जाके ।
कह लौं लाइ समाई ।।
चन्द्र सूर नहिं, राति दिवस नहिं ।
धरनी अकास न भाई ।।
करम अकरक नहिं, सुभ असुभ नहिं ।
का कहि देहुं बड़ाई ।। "

§ रैदास §

/2/ झरि लागै महलिया गगन घहराय ।
खन गरज खन बिजली चमकै, लहर उठे सोभा बरनि न जाय ।
सुन्न महल में अमृत बरसै, प्रेम मान ह्वे साधु नहाय ।
खुली किबरिया, मिटी अंधिरिया, धनि सतगुरु जिन लखाय ।
धरमदास बिनवै कर जोरै, सतगुरु चरन में रहत समाय ।। "

§ धर्मदास §

/3/ जो नर दुःख में दुख नहिं माने ।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जाने ।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना ।।

§ नानक §

/4/ इस दमदा मैनू कीबे भरोसा, आया आया, न आया न आया ।
यह संसार रैन दा सुपना, कहिं देखा, कहिं नाहिं दिखाया ।।
सोच विचार करै मत मन में, जिसने ढूंढा उसने पाया ।
नानक भक्तन के पद परखे निस दिन रामचरण चित लाया ।।

§नानक §

/5/ भाई रे ऐसा पंथ हमारा ।
दुवे पख रहित पंथ गह पूरा , अवर न एक अधारा ।
वाद-विवाद काहू सो नाहिं , मैं हूं जग थें न्यारा ।।
समदृष्टि तूं भई सहज में , आपहि आप विचारा ।। ×
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं , निरवैरी निरविकारा ।।

§ दादू दयाल §

/6/ गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो , पुनि खेह लगाइ के देह संवारी ।
मेघ सहै सिर सीत सहै , तन धूप समै जु पंचागिनी बारी ।।
भूख सहे रहि रूख तरे , पर सुंदरदास सहै दुख भारी ।
डासन छांड़ि कै कांसन ऊपर , आसन मारि पै आस न मारी ।।

§ सुंदरदास §

/7/ ना वह रीझे जप-तप कीन्हें ना आतप के जारे ।
ना वह रीझे धोती नेती ना काया के पखारे ।।
दया करै धरम मन राखै घर में रहै उदासी ।
अपना सा दुख सबका जानै ताहि मिले अविनासी ।। 22

§ मलूकदास §

भक्तिकाल में निर्गुण संप्रदाय के अतिरिक्त सगुण भक्ति में राम-भक्तिशाखा के कवि नाभादास हुए हैं । उनका "भक्तमाल" नामक एक ग्रन्थ विख्यात है । उसमें उन्होंने साम्प्रदायिक या जातिगत भेदभाव को त्यागकर सभी वर्ग और वर्णों के भक्तों का वर्णन किया है । कृष्णभक्त कवि सूरदास के की जाति के संदर्भ में भी बहुत वाद-विवाद हुआ है । स्वयं सूरदास ने अपनी जाति-पांति के बारे में उदासीनता बतायी है । उन्होंने यत्रतत्र स्वयं को अत्यन्त पतित समझा है और अपने उद्धार की इच्छा व्यक्त की है । उन्होंने अपने सम्पूर्ण काव्य में कहीं भी ब्राह्मण की स्तुति-प्रशंसा नहीं की है, वरन् श्रीधर के विप्रत्व का तनिक भी आदर न करते हुए उसे अनेक बार "वामन" कहकर उसके प्रति निरादर की भावना व्यक्त की है ।

भक्ति-पंथ में जाति-पांति को स्थान न देने का आशय ~~सूरदास~~ सूर-दास की निम्न पंक्तियों में व्यंजित हुआ है --

" कहौ सुक श्री भागवत विचार ।
जाति-पांति कोऊ पूछता नाहीं श्रीपति के दरबार ।"[23]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सूरदास के काव्य में कर्म-भेद , जाति-भेद इन सबके ऊपर भगवान की अटल भक्ति का स्थान है । संक्षेप में जहां तक भक्ति का प्रश्न है वे उसमें जातिभेद को नहीं लाते ।

कृष्णभक्तिशाखा के अष्टछाप के एक कवि कृष्णदास तो शूद्र जाति के ही थे , फिर भी महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य और कृपापात्र होने के कारण उन्हें मंदिर का मुखिया बनाया गया था । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जातिभेद को न देखते हुए एक दलित को ऐसा प्रमुख स्थान देकर सम्मानित किया था । [24] इससे यह प्रतिफलित होता है कि सगुण भक्ति में भी कृष्णकाव्य के अंतर्गत वर्णभेद और जातिभेद को भक्तों के सम्मुख अधिक तूल नहीं दिया जाता था ।

"मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई " का उद्घोष करने वाली कृष्ण- भक्त मीरा ने तो दलित रैदास को अपना गुरु बनाया था -- " गुरु रैदास मिले मोहिं पूरे , धुर से कलम भिडी । "[25] इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि मीरा ने भक्ति के क्षेत्र में ज्ञान के लिए छुत-अछूत के भेद को तिलांजलि दे रखी थी ।

इस प्रकार ~~xx~~ मध्यकाल का भक्ति-आंदोलन सामाजिक उथल-पुथल तथा वैचारिक क्रान्ति के संदर्भ में एक लोक-आंदोलन या जन-आंदोलन सा प्रतीत होता है । इसमें दलित चेतना के स्वर स्पष्टतया सुनाई पड़ते हैं । हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसे लोक-जागरण कहा है जो सर्वथा उपयुक्त है । क्योंकि समाज का निम्न तबका , दबा हुआ तबका , शोषित तबका कदाचित् पहली बार उभरकर आया है । भक्ति और साहित्य पर केवल एक विशिष्ट वर्ग का ही इजारा नहीं है , बल्कि दूसरे वर्ग के लोग आत्म-

साक्षात्कार और आत्मानुभूति के जरिए अपना विशिष्ट स्थान बना सकते हैं । यह बात यहां साफ तौर पर उभरकर आयी है ।

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध को हिन्दी साहित्य के इतिहास-कारों ने "रीतिकाल " नाम से अभिहित किया है । जहां तक दलित चेतना , वैचारिक क्रान्ति , वर्ण-जाति भेद का विरोध आदि सवाल हैं "रीतिकाल" को हम एक ह्रासोन्मुखी काल कह सकते हैं । इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगारिकता की रही है । यह प्रायः देखा गया है कि समाज में जब-जब विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ी है अन्य सामाजिक सरोकार हाशिये में चले जाते हैं । जो कवि यह कहता है —

" केशव जो केसन करि , अरिहु न कराहि ।
चन्द्रबदनी मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं ।। " [26]

उसकी मानसिकता के बारे में क्या कहा जा सकता है? ऐसे दरबारी मनोवृत्ति के कवियों से सामाजिक सरोकारों की अपेक्षा रखना हवा में गांठ बनाने के समान है । अतः जहां तक दलित चेतना का प्रश्न है रीतिकाल में एक प्रकार की रिक्तता का अनुभव हम कर सकते हैं ।

आधुनिक काल

किन्तु रीतिकाल के बाद जो आधुनिक काल आता है , दलित चेतना की दृष्टि से उसे न केवल हिन्दी साहित्य का , अपितु समूचे भारतीय साहित्य का स्वर्णकाल कह सकते हैं । आधुनिक काल की पृष्ठभूमि में नवजागरण का आंदोलन है , जिसे कुछ इतिहासकारों ने "भारतीय उत्क्रान्तिवाद " (इण्डियन रेनेसां) कहा है । इसमें अनेक सामाजिक मुद्दे और सरोकार साहित्य में कदाचित पहली बार उभरकर आये हैं । किन्तु इनमें दो विमर्श अग्र शीर्ष स्थान पर रहे हैं -- नारी विमर्श और दलित विमर्श । कहना न होगा कि इन दोनों वर्गों का जो शोषण धर्म और शास्त्र के नाम पर हो रहा था , उसकी ओर रचनाकारों का ध्यान गया है । आधुनिक काल

में आकरहमें साहित्य के कई प्रकार या रूप मिलते हैं । अतः भिन्न-भिन्न साहित्य-स्वरूपों में दलित-विमर्श को लेकर चर्चा करने का उपक्रम यहां है ।

आधुनिक काव्यधारा में दलित-विमर्श :

आधुनिक काल में द्विवेदीयुग के कवि मैथिलीशरण गुप्त अपने "भारत-भारती" काव्य में दलितोद्धार संबंधी कुछ विचारों को व्यक्त करते हैं । मैथिलीशरण गुप्त आर्यसमाज की सुधारवादी तथा गांधीवादी चेतना का कुछ प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है । परंतु गुप्तजी में यह दलित-विमर्श के कुछ-कुछ उपदेशात्मक प्रकार का है । यथा --

" शूद्रों ! उठो तुम भी कि भारत-भूमि डूबी जा रही है ।
है योगियों को भी अगम जो व्रत तुम्हारा है वही ।" [27]

आगे शूद्रों को सलाह देते हुए वे कहते हैं --

" मत नीच समझो आपको , ऊंचे बनो कुछ काम से ।" [28]

यों देखा जाए तो गुप्तजी भी गांधीजी की तरह "वर्णाश्रम-धर्म" के हिमायती हैं , परन्तु ऊंच-नीच और अस्पृश्यता-विषयक उसकी मध्ययुगीन जड़ता उन्हें मंजूर नहीं है । गुप्तजी के अनुज सियाराम-शरण गुप्त " एक फूल की चाह " नामक कविता में एक अछूत बालिका सुखिया का हृदयस्पर्शी चित्र अंकित किया गया है । इस कविता में कवि ने दलितों पर हो रहे जुल्मों का चित्रण भी कवि ने किया है । सुखिया शीतला की महामारी की शिकार होती है । रुग्ण बालिका के मन में देवी के प्रसाद के रूप में " एक फूल की चाह " उत्पन्न होती है और उसका पिता अपनी बेटी की इस चाह को पूरा करने के लिए सामाजिक बाधाओं और ~~xxxx~~ व्यवधानों की उपेक्षा करते हुए चुपके से देवी के मंदिर में जाता है , परंतु मंदिर के पंडे लोग उसे पकड़ लेते हैं । उसको खूब मारा-पीटा जाता है और अन्ततः

न्यायालय उसे एक सप्ताह का दण्ड देता है । इस बीच में सुखिया बेचारी तड़प-तड़प कर मर जाती है । कारावास के बाद जब सुखिया का बाप लौटता है तब उसे ज्ञात होता है कि सुखिया का तो देहान्त हो चुका है । इस प्रकार दलितों के मंदिर-प्रवेश निषेध की करुण परिणति को लेकर यह काव्य लिखा गया है । इस काव्य की निम्न पंक्तियां अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी हैं —

" हाय ! फूल सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी !
अंतिम बार गोद में बेटी
तुमको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी
तुझको दे न सका मैं हा ! " 29

सियारामशरण गुप्त ने ही "अनाथ" नामक एक काल्पनिक खण्डकाव्य भी लिखा है , जिसमें उन्होंने दलितों पर होने वाले अन्यायों और अत्याचारों को चित्रित किया है । इसमें एक अनाथ दलित को तपती धूप में बेगार करनी पड़ती है । सामाजिक विषमता का करुण चित्र गुप्तजी उपस्थित करते हैं , परन्तु उसमें कहीं भी विद्रोह या कटुता का भाव नहीं आता है ।

दलित-विमर्श के संदर्भ में प्रथम विद्रोही स्वर निरालाजी का सुनायी पड़ता है । उन्होंने अपने काव्यों में व्यर्थ की परंपराओं , बाह्याडंबरों , ऊंच-नीच , जाति-भेद जैसी बातों की कटु आलोचना की है । उनके काव्य-संग्रह "अनामिका" की "दान" नामक कविता में उन्होंने धर्म का मर्म न समझने वालों को उधड़ा लिया है । ऊंच-नीच और जात-पांत में धर्म देखने वालों पर उन्होंने करारे व्यंग्य किये हैं । "अनामिका" की ही एक कविता में वे रैदास के चरणों का स्पर्श करके नमस्कार करते हैं । यथा —

" छुआ पारस भी नहीं तुमने , रहे
कर्म के अभ्यास में , अविरत बहे

PITH 1421

ज्ञान-गंगा में , समुज्वल धर्मकार ,
चरण छे कर कर रहा मैं नमस्कार ।"30

निराला जी अपने प्रार्थना गीतों में भी चाहते हैं कि प्रभु दलितों पर दया करें और उनका कल्याण करें । यथा --

" दलित-जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु , तुम्हारी शक्ति अरुणा । " 31

उनकी "विधवा" , भिक्षुक " जैसी कविताओं में भी दलितों के प्रति करुणा का भाव मिलता है । अछूतों की भांति विधवा भी हिन्दू समाज द्वारा कई तरह से दली गयी है । अतः उसकी गणना भी हम दलितों में कर सकते हैं । निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में उन्होंने दलितों का जो उत्पीड़न होता है उसके प्रति विद्रोह व्यक्त किया है --

" दीन
सह जाते हो
उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न ...
"यहांकभी मत आना ,
उत्पीड़न का राज्य दुःख-ही-दुःख
यहां है सदा उठाना ... " 32

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जी के पश्चात् सुमित्रानंदन पंत की "ग्राम्या" की रचनाओं में परंपरागत रूढ़ियों , जातिगत भिन्नता , अशिक्षा , दरिद्रता , शोषण इत्यादि को ग्राम्य जीवन के संदर्भ में रेखांकित किया है । रूढ़ियों , सनातन-धर्मी विचारों , और धर्मों के उत्पातों से गांवों में निम्न जाति के लोगों का जीवन कितना पीडा-मय बन गया है उसे कवि "ग्राम" नामक कविता में व्यंजित करते हैं । यथा —

" धर्मों का उत्पात , जातियों , वर्गों का उत्पीड़न
इसमें चिर संकलित रूढ़ि , विश्वास , विचार सनातन । " 33

पंत अपनी "कठपुतली" नामक कविता में ग्रामीण दलित जातियों का

संकेत देते हुए लिखते हैं —

" ब्राह्मन , ठाकुर , लाला , कहार
कुर्मी , अहीर , बारी , कुम्हार
नाई , कोरी , पासी , चमार
शोषित किसान या जमींदार —

× × ×

पा गत संस्कारों के इंगित
ये क्रियाचार करते निश्चित । " [34]

"चमारों का नाच" कविता में कवि यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि समाज में अन्य वर्णों से जिनको अधम माना गया है , वे दलित-चमार ~~xxx~~ अपनी कसक और कुढ़न को मिटाने के लिए नृत्य का सहारा लेते हैं —

" ठनक कसावर रहा ठनाठन ,
थिरक चमारिन रही छनाछन ,
झूम झूम बांसुरी करिंगा
बजा रहा बेसुध सब हरिजन
गीत नृत्य के संग है प्रहसन । " ~~88x~~

× × ×

वर्णों के पददलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक और कुढ़न
कर उच्छृंखलता उद्धतपन । " [35]

अपने "उत्तरा" काव्य-संग्रह में " उद्‌बोधन" नामक कविता में कवि जात-पांत में खंडित समाज तथा धर्म-नीति में भेदभावों की कटु आलोचना करते हैं —

" जाति पांति देशों में खंडित भू जन ,
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन

नव मनुष्यता में ही मज्जित ,
जीर्ण युगों के अंतर । " 36

कवि "स्वर्ण धूलि" में जाति, वर्ण और धर्म के भेदभावों को विसर्जित करके सबको समान प्रकार का सामाजिक आधार प्रदान करने की बात करते हैं । यथा —

" मानव होकर रहें धरा पर
जाति-वर्ण-धर्मों से ऊपर ,
व्यापक मनुष्यत्व में बंधकर । " 37

आधुनिक हिन्दी काव्यधारा में दलित-विमर्श की दृष्टि से रामकुमार वर्मा द्वारा प्रणीत "एकलव्य " खंडकाव्य विशेषतया उल्लेखनीय समझा जा सकता है । स्वयं रामकुमार वर्मा अपने इस काव्य के संदर्भ में उसकी भूमिका में लिखते हैं —" मेरे लिए यह कम संतोष की बात नहीं है कि मेरे शैशव के संस्कारों में अंकुरित और बापू के अछूतोद्धार में पल्लवित यह कथा दश वर्षों की साधना के बाद आज भी युगवाणी में प्रस्फुटित हो रही है ।" 38

वर्माजी के इस काव्य में तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक और राजनीतिक अन्याय को अभिव्यक्ति दी गयी है । एकलव्य निषादराज का पुत्र है । निषादों की गणना भी शूद्र या दलितों में होती है , अतः तत्कालीन परंपरा के अनुसार विद्या हासिल करने का उनको अधिकार नहीं था । एकलव्य जब चाहता है कि वह गुरु द्रोण से धनुर्विद्या सीखे तो उसकी माता उसे समझाती है —

" वे हैं आर्य , हम शूद्र , हम सब शूद्र है ।
आर्य और शूद्र कैसे गुरु-शिष्य होंगे रे ? " 39

किन्तु एकलव्य अपनी जिद को नहीं छोड़ता और वह गुरु द्रोण के पास जाता है जो उसे शिष्य बनाने से इन्कार कर देते हैं । तब वह गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति ~~xxxxx~~ बनाकर भक्ति , लगन और स्वाध्याय

धनुर्विद्या सिखता है । और अपने इस प्रयत्न में वह गुरु द्रोण के प्रिय शिष्य अर्जुन को भी पीछे छोड़ देता है । तब गुरु द्रोण छल-छद्म से गुरु-दक्षिणा में उसके दाहिने हाथ का अंगूठा मांगकर उसकी पूरी साधना पर पानी फेर देते हैं । एकलव्य जब अंगूठा काटकर गुरु द्रोण को समर्पित कर देता है , तब गुरु द्रोण अपने क्षुद्रत्व और लघुत्व पर लज्जित होते हैं --

" एकलव्य हे !
तुम विप्र हो , हे शिष्य ! गुरु द्रोण शूद्र है । " 40

इस प्रकार गुरु द्रोण को पछतावा होता है और वे शिक्षा-प्राप्ति के समान अधिकार के संबंध में कहते हैं --

" जाति-भेद नहीं , वर्ग-वंश-भेद महत्वं भी नहीं ,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं । " 41

इस प्रकार वर्माजी ने "एकलव्य" काव्य द्वारा महाभारतकालीन भेदभाव पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बेपर्द किया है ।

वर्माजी के बाद इस क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट आते हैं । उनके द्वारा प्रणीत "कौन्तेय -कथा " में अर्जुन को जब वनचारी बलधारी किरात के दर्शन होते हैं तब शिव अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने का सबको अधिकार है । वहां ऊंच-नीच के भेद को सामने नहीं लाना चाहिए । यथा --

" कोई ऊंचा या नीचा है नहीं जगत में अर्जुन ,
उन्नति करने का अवसर सबको मिलना ही शुभ है । " 42

यह अनेक बार कहा जा चुका है कि आधुनिक काल के प्रमुख विमर्शों में दलित-विमर्श रहा है । ईसाई धर्म प्रचारकों ने जब अन्यायमूलक हिन्दू धर्म के कतिपय दोषों को उद्घाटित करना प्रारंभ किया तो हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु कुछ धर्म-सुधारक आंदोलन सामने आये जिनकी चर्चा नवजागरण के संदर्भ में हम कर चुके हैं । उसके पश्चात् अंग्रेजों की राजनीतिक चाल के तहत "कोम्युनल एवार्ड " के आधार पर

दलितों को हिन्दुओं से अलग स्थान देने के कारण महात्मा गांधी का ध्यान दलित समस्या की ओर गया । अतः महात्मा गांधी ने अपने स्वाधीनता संग्राम आंदोलन में दलितोद्धार को एक अहम मुद्दा बनाया । परिणाम यह हुआ कि गांधीवादी युग में भारतीय साहित्य के अनेक बड़े लेखकों और कवियों का ध्यान इस समस्या की ओर गया । हिन्दी साहित्य भी उससे अप्रभावित न रह सका । राष्ट्रीय धारा के कवि डा. रामधारीसिंह दिनकर ने अपनी "रेणुका" , "कुरुक्षेत्र " तथा "रश्मिरथी " नामक काव्य-रचनाओं में दलित-विमर्श से सम्बद्ध अनेक मर्मस्पर्शी स्थलों को उठाया है । ¤ " रेणुका" में संकलित " बोधिसत्व " कविता में दिनकरजी ने बोधिसत्व का आवाहन किया है कि हे बोधिसत्व ! भारत के लाखों दीन-हीन दलित तुम्हें बुला रहे हैं । यथा --

> " अनाचार की तीव्र आंच में अपमानित अकुलाते हैं ।
> जागो बोधिसत्व ! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं ।
> जागो विप्लव के वाक् ! दंभियों के अत्याचारों से
> जागो , हे जागो , तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से ।[43]"

दिनकरजी द्वारा प्रणीत "कुरुक्षेत्र " प्रबंध काव्य है । वैसे तो वह महाभारत की कथावस्तु पर आधारित है , किन्तु वहां भी अनेक स्थानों पर , विशेषतः कर्ण के संदर्भ में दलित-विमर्श को वे विस्मृत नहीं कर पाये हैं । कवि की आकांक्षा है कि " स्नेह-संचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण हो । " अर्थात् नये विश्व का निर्माण जाति-धर्म घृणामूलक आधार पर न हो किन्तु समतामूलक , न्यायमूलक , प्रेम-तत्वों पर आधारित हो । इसी काव्य में उन्होंने कहा है — "दलित मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरो । " इस प्रकार कवि दलितों में भी मानवीय भाव जागे , उन्हें भी मानव होने का अहसास हो , वे भी दूसरे मनुष्यों की तरह स्वयं को समझें और लघुता-ग्रंथि को छोड़ दें ऐसी आकांक्षा वे व्यक्त करते हैं ।

" कुरुक्षेत्र " में अभिव्यक्त दलित-विमर्श अधिक स्पष्ट रूप से "रश्मिरथी" में उभरकर आया है । प्रस्तुत खण्ड-काव्य में दिनकरजी ने शूद्रत्व के कर्ण के अवहेलित जीवन को मर्मस्पर्शी ढंग से चित्रित किया है । यह एक सर्वविदित तथ्य है कर्ण का जन्म पांडवों की माता कुन्ती की कोख से हुआ था । कुन्ती तब अविवाहित थी । अतः लोकलज्जा के भय से उसने नवजात शिशु को पानी में बहा दिया था । अधिरथ नामक एक सूत को वह बालक मिलता है । अधिरथ तथा उसकी पत्नी राधा उस बालक को पाल-पोषकर बड़ा करते हैं । इसी कारण कर्ण को "सूतपुत्र" कहा जाता था । तत्कालीन समाज-व्यवस्था के अनुसार सूतों की गणना शूद्रवर्ग के अन्तर्गत ही होती थी । और उस लिए उनको धनुर्विद्या का अधिकारी नहीं समझा जाता था । महाभारत के "रंगभूमि" प्रसंग में जब कर्ण शर-कौशल के लिए अर्जुन को आह्वान देता है , तब भरी सभा में कृपाचार्य उसे अपमानित करते हैं । यथा –

" अर्जुन से लड़ना हो तो मत रहो सभा में मौन ।
नाम-धाम कुछ तो कहो , बताओ तुम जाति हो कौन। "[44]

कृपाचार्य के इस प्रश्न से अपमानित और आहत कर्ण क्रोधित होकर विद्रोहात्मक स्वर में कहता है —

" जाति-जाति रटते जिनकी पूंजी केवल पाखंड ,
मैं क्या जानूं जाति, जाति है मेरे भुजदण्ड । "[45]

वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में सवर्णों की बातें हमेशा " दो मुंही " रही है । " इधर से खांडा , इधर से बांडा" वाली कहावत उन पर चरितार्थ होती है । कभी कहेंगे कि वर्णाश्रम व्यवस्था "गुण-कर्म विभाग " पर आश्रित है , तो कभी कहेंगे जन्म पर आधारित है । ताकि समयानुसार अपने पक्ष में उसे भुनाया जा सके । यह प्रायः देखा गया है कि अवर्णों में शारीरिक बल तथा कौशल अधिक होता है । उनसे सीधे लड़ने का उनमें साहस नहीं होता । अतः

अपनी कायरता को जातिगत श्रेष्ठता के आवरण में छिपाते हैं । अर्जुन के प्रति ईर्ष्यावश ही सही किन्तु सुयोधन की यह टिप्पणी कितनी सार्थक, सटीक और व्यंग्यात्मक है — "जाति-पांति का शोर मचाते केवल कायर क्रूर "[46] कर्ण को सुयोधन का साथ मिलता है । वह उसे अंग-प्रदेश का नरेश नियुक्त करता है । अतः कर्ण भी सुयोधन के लिए प्रतिबद्ध होता है और धनुर्विद्या में अर्जुन को पराजित करने के लिए धनुर्विद्या के निष्णात परशुराम को अपना गुरु बनाने की योजना बनाता है । परन्तु परशुराम केवल ब्राह्मण-कुमारों को ही विद्यादान देते थे । अतः कर्ण ब्राह्मण-कुमार बनकर परशुराम से विद्या ग्रहण करता है । किन्तु अन्ततः कर्ण का रहस्य परशुराम पर प्रकट हो जाता है । परशुराम द्वारा ~~अपनी~~ जाति पूछने पर वह कहता है —

"सूत-पुत्र मैं शूद्र कर्ण हूं, कृपा का अभिलाषी हूं ।" [47]

किन्तु परशुराम कर्ण को क्षमा नहीं करते और शाप देते हैं कि उन्होंने उसे जो विद्या सिखायी है, आपात्काल में वह उसे काम नहीं आयेगी । फलतः प्रस्तुत खण्डकाव्य में कर्ण के चिंतन द्वारा अनेक स्थानों पर जाति-भेद की भर्त्सना की गयी है । यथा —

"धंस जाए वह देश अतल में, गुण की जहां नहीं पहचान,
जाति-गोत्र के बलसे ही आदर पाते हैं जहां सुजान ।" [48]

× × × ×

"हाय ! जाति छोटी है, तो फिर सभी हमारे गुण छोटे,
जाति बड़ी तो बड़े बनें वे, रहे लाख चाहे खोटे ।" [48]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूतपुत्र होने के बावजूद कर्ण अपने गुण-कर्मों के कारण अपने शौर्य और पराक्रम से श्रेष्ठता और महानता अर्जित करता है । अन्ततः कृष्ण को भी कहना पड़ता है —

"दलित-तारक समुद्धारक त्रिया का ।" [49]

इस प्रकार दिनकर द्वारा प्रणीत यह "रश्मिरथी" काव्य एक प्रकार

नये युग के विद्रोह का बिगुल बजा देता है । वस्तुतः कुल और जाति के अहंकार को मिटाकर मानवीय मूल्यों और गुणों की स्थापना करना ही दिनकरजी का श्रेय-ध्येय है ।

डा॰ रामधारीसिंह दिनकर के "रश्मिरथी" काव्य के उपरांत नयी कविता के प्रमुख कवि जगदीश गुप्त का "शम्बूक" खण्डकाव्य आता है । सर्प-दंश से एक ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु होती है । पिता के रहते पुत्र की मृत्यु इसे लोग अशुभ समझते हैं । ब्राह्मणों का एक वर्ग उस ब्राह्मण को उकसाते हैं कि यह तो अधर्म है । नारद वशिष्ट से कहते हैं कि कोई शूद्र तप कर रहा है, जिसके कारण यह अघटित घटित हुआ है । यदि श्रीराम के द्वारा शम्बूक का वध हो तो ब्राह्मण-पुत्र फिर से जीवित हो सकता है । इस पर वशिष्ट राम को आदेश देते हैं कि शम्बूक जाति से शूद्र है और रामराज्य की तत्कालीन परंपराओं के अनुसार शूद्र का तप करना अनुचित ही नहीं अधर्म भी है, अतः उसका वध अनिवार्य है । अन्य वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का कर्तव्य है, तप करने का उसे कोई अधिकार नहीं है । "शम्बूक" काव्य में एक स्थान पर राम कहते हैं —

> " तप नहीं है शूद्र का कर्तव्य
> फिर से सोच लो शम्बूक । " 50

शम्बूक राम से कहता है कि सभी इस भू-माता के पुत्र हैं । व्यक्ति अपने कर्म से महान या क्षुद्र हो सकता है, जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था उसे स्वीकार्य नही है —

> " सभी पृथ्वी-पुत्र हैं, तब जन्म से,
> क्यों भेद माना जाय ? " 51

यहां पर शम्बूक के कथनों में पक्षपाती और स्वार्थपरक समाज-व्यवस्था की पोल खोली गई है । ब्राह्मण पुत्र के मृत्यु के लिए राम उसे

उत्तरदायी बताते हैं , उसको भी वह अनुचित मानता है । यथा —

" शूद्र हूं मैं लिए काली देह ,
इसीसे मुझ पर तुझे संदेह । " 52

"शम्बूक" काव्य में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं जिनसे ग्लानि-ग्रस्त होकर शम्बूक तप करने का निश्चय करता है । पहले दूसरे शूद्रों की तरह वह भी उसी जाति के लोगों की सेवा करता था । झाड़ते-बुहारते हुए जब कभी उसका हाथ किसीको छू लेता था , तब अस्पृश्य कहकर उसे अपमानित किया जाता था । कई बार सामूहिक रूप से ऋषि-गण उसे लातों से मारते थे । इस स्थिति से उबरने के लिए संघर्ष-शील शम्बूक तप करने का निर्णय करता है । परन्तु वहां भी उसका तपोभंग करने के लिए ये लोग षडयंत्र रचते हैं । ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु सर्पदंश से हुई थी , परन्तु ये लोग उसे शम्बूक के तप से जोड़ते हैं । शम्बूक का तप करना वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ है और वर्णाश्रम-धर्म का अनादर अधर्म है और उसीके कारण ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हुई है ऐसा ये लोग प्रचारित करते हैं । ‌ प्रचार में तो ये लोग एक्के हैं ही ‌ शम्बूक के वध केउपरांत वह जीवित हो उठता है । वस्तुतः बाद में उसको सर्प-विष-विनाशक जड़ी-बुट्टी का रस पिलाया जाता है और उस औषधि के कारण वह जीवित हो उठता है ।

इस प्रकार "शम्बूक" काव्य में हम देख सकते हैं कि एक विशिष्ट वर्ग के लोग अपने न्यस्त हितों की रक्षा के लिए कैसे-कैसे षडयंत्र रचते हैं । शूद्र के तप करने से ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हो यह केवल अंध-श्रद्धा का परिणाम है । किन्तु यह अंध-श्रद्धा सामान्य लोगों के बीच है । सम्भ्रान्त वर्ग के लोग तो उपर्युक्त तथ्य से भली-भांति परिचित हैं । यहां एक वस्तु गौरतलब है कि रामराज्य को एक आदर्श राज्य और राम को एक आदर्श राजा माना गया है । राजा का तो यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने प्रजाजनों में प्रचलित अंध-विश्वासों को दूर करें , न कि उनको प्रोत्साहित करें ।

काव्य के प्रारंभ में ही कहा गया है —

" मनुजता हो जहां आहत , मूक ,
वहीं उसका स्वर बने शम्बूक । " 53

काव्य के "प्रतिपक्ष" प्रकरण में शम्बूक द्वारा जो सवाल उठाए गए हैं , "दलित-विमर्श " के संदर्भ में वे विचारणीय एवं प्रेरक हैं —

" लोकनायक वही जो —
संवेदना का मर्म समझे
धर्म और अधर्म समझे
× × ×
लोकनायक वह नहीं
जो विधि-अविधि की
बात करने से डरे
बस ,
दण्डनायक भूप हो । " 54

शम्बूक मानो समग्र मानवता की ओर से राम से ~~xxxxx~~ पूछता है —

" तप कि जिस पर सृष्टि का आधार हो
तप कि जिससे चल रहा संसार हो
तप कि जिससे त्रिदेवों को बल मिले
तप कि जिससे मनुज को संबल मिले
मैं तुम्हीं से पूछता हूं राम । वही तप दुष्कर्म कैसे हो गया ?
वही कृत्य अधर्म कैसे हो गया ? वही तप अपराध कैसे हो गया ?
राजदण्ड अबाध कैसे हो गया ? ....
राम तुम क्षत्रिय , कहाते ब्रह्म हो
कह सको तो विश्व-व्यापी सच कहो
वर्ग-हित या वर्ण-हित के ध्यान से
जब तुम्हारा चित्त परिचालित न हो । " 55

इस प्रकार जगदीश गुप्त ने "शम्बूक " काव्य द्वारा "दलित-विमर्श " को अधिक प्रखर और धारदार बनाया है । अन्यत्र एक काव्य में जगदीश गुप्त सांकेतिक ढंग से लिखते हैं --

" चींटी का भय उसके अस्तित्व का संकट बन गया है
अहंकार टूटता है । आसान छटता है
जरा-सी चीज से अपना कपार कूटता है ।
संसद के पंजे लहूलुहान हैं ।
फूंक-फूंक कर पैर रखना अकारथ गया
शासन का भयभीत हाथी
रौंदता है पागलखाने में
अपनी ही सेना को । "[56]

डा. रामप्रसाद मिश्र जगदीश गुप्त की इस मार्मिक व्यथा को बिखरी हुई और पसरी हुई बताते हैं । अनेक दलित ~~कविवर्ग~~ कवियों की रचनाओं को असंतुलित और रिक्त आक्रोश युक्त दुर्बल रचनाएं बताते हैं । [57] परंतु जो दलित कवि "विनय के पद " वाली शब्दावली में काव्य-रचना करते हैं उनको तो डा० मिश्र संतुलित एवं प्रशस्य रचना बताते हैं । यथा -- माताप्रसाद की निम्नलिखित रचना --

"आओ मिलकर दलित जन जगाएं , सबको उन्नति का पथ हम दिखाएं ।
वाल्मीकि हैं हमारे भाई , सबके पीछे वहीं है दिखाई ।
पासी , धोबी , खटिक सब मिलाएं ।।
आदिवासी जो थे वन में गाते , विस्थापन कर उनको भगाते ,
रोटी , कपड़ा न आंसू बहाएं ।।
सब दलित एकजुट यदि रहेंगे , मिलकर अधिकार हित सब लड़ेंगे
सबकी पूरी हों तब कामनाएं ।
दलित जन को न आपस में बांटो , फूट करके अलग कुछ न छांटो ।
कोई हो न अलग सब मिलाएं , अपने बच्चों को हम सब पढ़ाएं । "[57]

इस रचना को डा. मिश्र संतुलित एवं प्रशस्य रचना कहते हैं । किन्तु जहां किसी दलित कवि ने तीखे तेवर दिखाए , वहां वे उसे असंतुलित, रिक्त आक्रोशयुक्त दुर्बल रचना करार देते हैं , जैसे पुरुषोत्तम सत्य-प्रेमी की निम्नलिखित काव्य-रचना —

" तुमने कहा / दुल्हन की पालकी हवेली भेजो / मैंने सिर झुकाकर कहना मान लिया / आज तुम्हारी बहिन-बेटी / मुझसे प्यार करने लगी है / और दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध मेरे साथ रहने लगी है ... " 59

और -

" जीना महज सांस लेना तो नहीं है / रोना और हंसना ही नहीं / वह जिहाद हो गया है / और खामोशी का लावा / बिखरेगा तो बहुत कुछ जल जाएगा / तुम्हारे तेज तेवर / उच्च कुलीनता की ऋषि-सन्तान के मुखौटे ... " 60

इस रचना को डा. मिश्र रिक्ताक्रोशयुक्त दुर्बल रचना मानते हैं । क्योंकि उनकी सहस्त्राधिक वर्षों से पाली-पोषी गयी ब्राह्मणवादी मानसिकता को उससे आघात पहुंचता है ।

जहां भी स्थापित न्यस्त हेतु के प्रति विद्रोह का स्वर है , मिश्रजी को अग्राह्य है । उनको कोई "केवट" और "शबरी" बने यह तो ग्राह्य है , परन्तु कोई शम्बूक या एकलव्य बनना चाहे यह उनकी ब्राह्मण-संस्कारित (?) बुद्धि को ग्राह्य नहीं है । जगजीवनराम के निम्नलिखित कथन की वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं —

" मैं पढ़ा-लिखा हूं , अतः ब्राह्मण हूं , रक्षामंत्री रहा अतः क्षत्रिय हूं , कृषिमंत्री हूं अतः वैश्य हूं , और जन्म से शूद्र हूं । "61

मिश्रजी जगजीवनराम के इस कथन को अकुंठित और स्वस्थ उद्गार मानते हैं क्योंकि आखिर-आखिर में वे अपना शूद्रत्व स्वीकार करते हैं । यही बात मिश्रजी को गद्गदित कर देती है । परन्तु सत्यप्रेमी की बात को वे केवल ~~आक्रोश~~ आक्रोशजन्य मानते हैं — रिक्त आक्रोश ।

सत्यप्रेमी के उद्‌गारों में उनको न सत्य दिखता है, न प्रेम । सत्यप्रेमीजी की उपर्युक्त "जीना महज सांस लेना तो नहीं है" के ध्वन्यार्थ को न ग्रहण करते हुए "जिहाद" शब्द की इस्लाम प्रेरित व्याख्या करने बैठ गए हैं । "जिहाद" का वहां जो भी अर्थ रहा हो, सामान्यतया हमारे यहां वह विरोध या विद्रोह के अर्थों में प्रयुक्त होता है । डा. रामप्रसाद मिश्र की समस्या यह है कि कोई भी दलित कवि अपनी सनातनी या कीर्तनिया धुन में कुछ कहें तो उन्हें अच्छा लगता है, परन्तु उनके (दलितों के) विद्रोहात्मक स्वरों से उन्हें चिढ़ है और जहां ऐसा हुआ है, वहां उनके काव्य में वे किसी-न-किसी प्रकार की नुक्ताचीनी करेंगे । दलित-विमर्श के संदर्भ में सशक्त हस्ताक्षर माने जाने वाले श्योराजसिंह "बेचैन" की निम्नलिखित रचना को वे फिल्मी-गीत प्रेरित मानते हैं --

> " नाम पै मंदिर और मस्जिद
> का खोते चन्दा लोग मिले
> छिप-छिप कर बेईमानी का
> करते धंधा लोग मिले
> कुर्सीवाले , बंगलेवाले
> खादीवाले लोग मिले
> दहेज रोधक दस करोड़
> की शादी वाले लोग मिले ..." 62

इसमें श्योराजसिंह ने हमारी वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक स्थिति पर सशक्त व्यंग्य किया है, यह तो उनको नहीं दिखा और उसमें फिल्मी-धुन को सूंघ लिया ।

डा. कुसुम वियोगी की निम्नलिखित काव्य-रचना भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य है --" आज का एकलव्य / गुरुदक्षिणा में दिये अंगूठे के बिना / शब्दों के तेजाबी तरकश / चढ़ाता है / जब अपने धनुष-बाण में / तब तुम चीखते हो / कराहते हो / पड़े-पड़े / अपनी संस्कृति

की मृत शैय्या ..."[63]

तो यहां भी मिश्रजी भाषा की गलतियां गिनाने बैठ गये हैं । जैसे -- "तरक्ष" के स्थान पर "तरकस " तथा ~~शैय्या~~ "शैय्या" के स्थान पर " शैया" या "शय्या" होना चाहिए ।[64] यदि कोई और कवि होता तो मिश्रजी कदाचित् उसे "प्रिंटिंग" की क्षति बताते ।

इस संदर्भ में उन्होंने अपनी भड़ास भी निकाली है । यथा - "एकलव्य-कथा में द्रोणाचार्य को अपशब्द कहना सरल बन गया है, क्योंकि पैबन्द इधर झुका लगता है, किन्तु एकलव्य की मूर्खता कहीं अधिक विगर्हणीय है । मैं प्रायः प्रश्न करता हूं : निरे विशेषाधिकारों (गाली देने के विशेषतम अधिकार समेत) के बावजूद "दलित" क्यों ? क्या अयोग्यता एवं असमर्थता, परोपजीविता एवं निष्क्रियता नहीं ? व्यसन, नारी शोषण, संतति-अशिक्षा, ऋणवृत्ति, अपराधवृत्ति भी "मनुवादियों ने " लादे हैं ? चीखने और कराहने के दर्पघोष में निराधारता के कारण हास्य-निष्पत्ति मात्र हो पाती है । संस्कृति के कारण ही भारत का सम्मान है ; न तो वह ~~मृत~~ मृत है, न उसका प्रतिपादक । पर कागजी वज्र का प्रहार नौटंकी क का समा जरूर बांधता है ।"[65]

यहां पर डा. रामप्रसाद मिश्र से कुछ सवाल तलब करने की इच्छा को रोक नहीं पा रही हूं । एकलव्य का वह कार्य यदि मूर्खता-पूर्ण था तो अब तक उसे "गुरुभक्ति" का नाम क्यों दिया गया ? विशेषाधिकारों का अमल कितना हुआ ? क्या अयोग्यता, असमर्थतता परोपजीविता और निष्क्रियता केवल दलितों में ही है ? ~~लेकिन~~ दूसरों के श्रम पर जीवित रहना क्या परोपजीविता नहीं है ? क्या अगड़ी जातियां व्यसनों से मुक्त हैं ? क्या नारी-शोषण सबसे ज्यादा वे नहीं करते ? संतति को अशिक्षित रखने के लिए क्या उनकी समाज-व्यवस्था उत्तरदायी नहीं है ? जिस वर्ग या वर्ण पर अनेक सारी धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक निर्योग्यताएं (डिसएबिलिटीज़)

थोप दी गयी हों क्या उसमें ऋणवृत्ति या अपराधवृत्ति पैदा नहीं होगी ? क्या अगड़ी जातियां अपराध-वृत्ति से मुक्त है ? सबसे ज्यादा आर्थिक-अपराध किस वर्ग में होते है ? अतः यदि दलित लेखक पुरानी समाज-व्यवस्था को गरियाता है , मनुवादी व्यवस्था को गरियाता है , तो इसमें इतना लाल-पीला होने की क्या आवश्यकता है ? क्या संस्कृत तत्सम शब्दावली का प्रयोग करके डा. मिश्र दलित-वर्ग को नहीं गरिया रहे ? हजारों साल से मिले शास्त्रानुमोदित विशेषाधिकारों के तहत क्या आप नहीं गरियाते रहे इन लोगों को ? और फैशन ? तो डा. मिश्र क्या आप नहीं झुके उस फैशन की ओर ? क्या आपकी पुस्तक का शीर्षक एक धोखाधड़ी नहीं है ? पुस्तकका शीर्षक है — " दलित-साहित्य " और फिर उसके साथ " साहित्यिक और सांस्कृतिक निबंध " का पुछल्ला जोड़ा गया है । स्वयं मैंने यह पुस्तक उसके शीर्षक को पढ़कर ही "आर्डर " की थी । 288 पृष्ठों की यह पुस्तक , और उसमें केवल 48 पृष्ठ दलित-साहित्य पर ! क्या यह प्रामाणिकता है डा. मिश्र ?

इसी क्रम में हेमलता महीश्वर की निम्नलिखित कविता आती है --

" झोंपड़ों में / भतर ही भीतर / हलचल है / भूकम्प होगा / या ज्वालामुखी फटेगा / मालूम नहीं / पर -- / कुछ तो होगा / यह मालूम है× है । / सूरज फिर तुम नहीं बच पाओगे / इन अति उत्साही झोंपड़ों से / ये / तुम्हारा स्पर्श पाकर , / तुमसे ही आग लेकर -- / अपने भीतर की आग बुझायेंगे / और प्रासादों को अपने आगे / बौना ठहरायेंगे । " [66]

दलित-विमर्श " की काव्यधारा में अशोक चक्रधर की निम्नलिखित कविता को भी उल्लेखनीय कहा जा सकता है —

" रिक्शेवाले को बुलाया / आवाज देकर / तो वह कुछ

लंगडाता हुआ आया / मैंने पूछा - यार / पहले ये बताओगे , / पैर में चोट है / कैसे चलाओगे ? / रिक्शेवाला कहता है -- बाबूजी रिक्शा पैर से नहीं / पेट से चलता है ।" [67]

समकालीन दलित कवियों में जयप्रकाश करदम , ओम"-प्रकाश वाल्मीकि , मलखानसिंह , मोहनदास नैमिशराय , डा. धर्मवीर , श्योराजसिंह बेचैन , सुदेश तन्वर , सोहनपाल , सुमनाक्षर आदि उल्लेखनीय हैं । पिछले दशक में हिन्दी दलित-काव्य में दो कवियों ने अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है । ये दो कवि है -- मलखानसिंह और ओमप्रकाश वाल्मीकि । मलखानसिंह का सन् 1996 में प्रकाशित लघु काव्य-संग्रह " सुनो ब्राह्मण " श्रोताओं के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है । "सुनो ब्राह्मण-"में संकलित 15 कविताएं कवि की आंतरिक पीड़ा , उसके प्रतिरोध और उसके विद्रोह को सशक्त वाणी देने वाली कविताएं हैं । कवि संघर्ष की कठिन यात्रा के बावजूद यथार्थवादी है ।[68] वह कहता है —

" मैं निराश नहीं हूं मित्र ।
गांव की कीच भरी नालियों में
मौसम के खिलाफ
उठती हुई आवाजें
मुझे साफ सुनाई दे रही हैं । " [69]

"सुनो ब्राह्मण" कविता में कवि ब्राह्मणवादी वर्चस्व को एकदम रद्द कर ऐलान कर देता है --

" सुनो वसिष्ठ / द्रोणाचार्य तुम भी सुनो
हम तुमसे घृणा करते हैं
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं । " [70]

ओमप्रकाश वाल्मीकि के दो कविता-संग्रह इधर प्रकाशित हुए हैं । उनके

"सदियों का संताप" काव्य-संग्रह के संदर्भ में सुप्रसिद्ध दलित समालोचक डा. धर्मवीर ने लिखा है — " काव्य-पुस्तक बहुत छोटी है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से अभिव्यक्ति बेहद सशक्त है । " 71

"बस्स ! बहुत हो चुका " वाल्मीकिजी का दूसरा काव्य-संग्रह है । इसके बारें में आलोचकों की ऊंची धारणा है, जिनमें से कुछेक अभिमत द्रष्टव्य है --

/1/ संग्रह की हर कविता मेरा बयान लगती है । मेरी पीड़ा और प्रश्न इन कविताओं में दिखायी दिये । -- शरणकुमार लिंबाले ।

/2/ संग्रह की कविताएं पढ़कर लगा कि हिन्दी कविता मर गयी थी, वह जन्म ले रही है । -- डा. मस्तराम कपूर ।

/3/ कविताओं ने इतने प्रश्न दिये कि हाथ मलने और हतप्रभ रह जाने के सिवा कुछ न कर सका । दर्द का सैलाब है ये कविताएं । — डा. प्रतीक मिश्र ।

/4/ आज शब्द और भाषा अपनी पहचान खो चुके हैं । इन रचनाओं में मुझे प्रत्येक शब्द में पहचान की आहट मिली है । - मालती शर्मा ।

/5/ संग्रह की कविताएं दलितों की सदियों की संतप्तता को उसकी तिक्तता के साथ कभी सीध तो कभी प्रतीकात्मक रूप से सम्प्रेषित करती है । — कृष्ण शलभ । 72

अब जिस काव्य-संग्रह के संदर्भ में कहा गया है उसी संग्रह से एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

" जब भी देखता हूं मैं / झाड़ू या गंदगी से भरी बाल्टी - कनस्तर, किसी हाथ में / मेरी रगों में / दहकने लगते हैं / यातनाओं के कई हजार वर्ष / जो फैले हैं इस धरती पर / ठण्डे रेत कणों की तरह । " 73

" बस्स ! बहुत हो चुका / चुप रहना / निरर्थक पड़े पत्थर / अब काम आयेंगे संतप्त जनों के । " 74 (73)

तो "जाति" नामक कविता में बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से वाल्मीकिजी लिखते हैं --" स्वीकार्य नहीं मुझे / जाना / मृत्यु के बाद / तुम्हारे स्वर्ग में ? / वहाँ भी तुम / पहचानोगे मुझे ।/ मेरी जाति से ही ।" [74]

श्यामलाल शर्मा अपने एक गीत"कुछ नहीं बदला" में लिखते हैं --" कुछ नहीं बदला / नहीं बदले / हमारे गाँव / है वही पंडा / वही मंदिर / गजब है / मूर्ति-पूजन का हक न तब था / न अब है ।" [75] इसी बात को डा. पारूकांत देसाई अपने दोहों में यों कहते हैं --" जो पहले होता रहा , अब भी वो ही हाल । आखिर चिड़िया क्या करें , डाल बने हैं जाल ।।" [76]

"हंस" के दलित-विशेषांक (अगस्त-2004) में राजेश चन्द्रा अपनी "शुभ नाम " नामक कविता में मार्मिक ढंग से कहते हैं --" एक और एक मात्र / रूचि होती है जाति में / जब तक अपरिचित की / जाति स्पष्ट नहीं हो जाती / तब तक परेशान रहता है / एक हिन्दू ।" [77] कितना करारा व्यंग्य किया है इसमें हिन्दुओं की जातिवादी मनोवृत्ति पर । मेरे मानस गुरु डा. पारूकान्त की "सरनेम" है देसाई । वे अक्सर बताते हैं कि जब वे बाहर कहीं यात्रा में होते हैं , तो जब अपनी सरनेम देसाई बताते हैं , तो फौरन दूसरा सवाल दाग दिया जाता है — कौन-से देसाई ? और जब वे कहते हैं कि -- रबारी देसाई) तो सुनते ही लोगों के चेहरों के रंग बदल जाते हैं । व्यवहार बदल जाते हैं ।

तो कृष्ण परख अपनी " दोनों के लक्ष्य अलग-अलग " कविता में व्यंग्य करते हुए लिखते हैं --" मनु का मकसद है / अम्बेडकर को उगने नहीं देना / अम्बेड़कर का मकसद है / मनु को ज्ञान देना / मनु का मकसद है / मैं दलितों में रोटी बांटूं / अम्बेड़कर का मकसद है / कोई हाथ न फैलाये ।" [78]

दलित-चेतना और हिन्दी उपन्यास :
==========

उपन्यास एक यथार्थधर्मी विधा है , अतः दलित चेतना से उसका सीधा संबंध है । नवजागरण के आंदोलनों के कारण जो मुद्दे उभरकर सामने आये उनमें दो मुख्य हैं -- नारी विमर्श और दलित-विमर्श । दोनों का शोषण धर्म , शास्त्र , रूढ़ि और परंपरा के नाम पर हुआ है । नारी-विमर्श का प्रारंभ तो पूर्व-प्रेमचन्दकाल से हो गया था , किन्तु दलित-विमर्श की शुरूआत प्रेमचन्दयुग में प्रेम-चश्म से हुई है । प्रेमचन्दकालीन दलित-चेतना संपन्न उपन्यासों में "बुधुआ की बेटी" (पांडेय बेचैन शर्मा उग्र) , "कर्मभूमि" , "रंगभूमि", "गबन" , "गोदान" (प्रेमचन्द) ; "अलका" , "निरूपमा" , "कुल्ली भाट" (सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला) ; "अंतिम आकांक्षा " (सिया-रामशरण गुप्त) आदि उपन्यास आते हैं । इस कालखण्ड के लेखकों की दलित-चेतना "उग्र" जैसे एकाध लेखक को छोड़कर अधिकांशतः गांधी-वादी विचारधारा से अनुप्रेरित रही है । उनकी आस्था गांधीवादी समाधानों में थी , परन्तु उग्रजी के उपन्यास "मनुष्यानंद" तथा प्रेमचंदजी के उपन्यास "गोदान" में कहीं-कहीं वे गांधीवादी आस्था का अतिक्रमण करते हुए दृष्टिगत होते हैं । प्रेमचन्दयुग के लेखकों ने दलित-वर्ग के लोगों के साथ होने वाले अत्याचार , अन्याय इत्यदि का यथार्थ चित्रण किया है । "गोदान" उपन्यास की सिलिया चमारिन समूची बिरादरी के खिलाफ जाकर पंडित मातादीन के खेतों में तनतोड़ मेहनत करती है । परंतु एक दिन थोड़े से अनाज के लिए मातादीन जब सिलिया को अपमानित करता है , तब सिलिया का पिता हरखू तिलमिला उठता है और सिलिया के अपमान का बदला लेने के लिए बिरादरी वालों के साथ पं. मातादीन के पास पहुंच जाता है और उसे कहता है : "तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते , मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं । तुम हमें ब्राह्मण बना दो , हमारी सारी बिरादरी ब्राह्मण बनने को तैयार है । जब यह सामर्थ्य नहीं है तो तुम भी चमार बनो ।"[79] और

ऐसा कहते हुए वे लोग पं. मातादीन को पकड़कर जबरदस्ती उसके मुँह में हड्डी का एक टुकड़ा डाल देते हैं ।

"कर्मभूमि" उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने दलित-वर्ग के मंदिर-प्रवेश के मसले को उठाया है । उसको लेकर अनेक आंदोलन होते हैं और अन्ततः उसमें सफलता मिलती है । इस प्रकार प्रेमचन्दयुग में दलित-विमर्श और उसके सरोकारों की शुरूआत हमें मिलती×××× है । इस काल के लेखकों ने अछूत वर्ग के लोगों को भारतीय समाज का एक अंग माना है, इतना ही नहीं राष्ट्रीय-स्वाधीनता के साथ अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार के प्रश्न को भी उन्होंने बराबर छेड़ा है । इस कालखंड के लेखक महात्मा गांधी की तरह अछूतोद्धार की प्रवृत्ति को भी स्वाधीनता-संग्राम की एक प्रवृत्ति ही मानते हैं । प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों ने प्रमाणित किया कि अस्पृश्यताअस्पृश्यता भारतीय संस्कृति को लगा हुआ एक ग्रहण है । मनुवादी-ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने इस विषवृक्ष को बोया है । अतः इस कालखंड के लेखकों ने न केवल उच्चवर्णीय लोगों की भर्त्सना की है, अपितु उन्हें अपने अतीत के पापों के लिए प्रायश्चित करने की प्रेरणा भी दी है । इन लेखकों ने दलित-वर्ग के सामाजिक आंदोलनों को तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों के साथ जोड़कर अधिक बलवान बनाया है । दलित वर्ग की सामाजिक समस्याओं और दलितों पर थोपी गयीं निर्योग्यताओं के साथ-साथ इस कालखंड के कुछ लेखकोंने इस वर्ग की आर्थिक स्थिति की ओर भी प्रामाणिक दृष्टिपात किया है और उनके सुधार के लिए समुचित समाधान भी प्रस्तुत किये हैं ।

प्रेमचन्दोत्तर काल के दलित-सं चेतना-संपन्न उपन्यासों में "गोली", "बगुला के पंख", "उदयास्त" (आचार्य चतुरसेन शास्त्री) ; "कब तक पुकारूं ?" (डा. रांगेय राघव), सरकार

तुम्हारी आंखों में (पांडेय बेचन शर्मा उग्र) , "जुनिया " (गोविन्द वल्लभ पंत) , " देवदासी " (नरसिंहराम शुक्ल) , "गरीब" (जगदीश झा विमल) , "जमींदार" (प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति) , कभी न कभी " (वृन्दावन लाल वर्मा) , " अधूरी नारी " (उदयराज सिंह) , " पीले पत्ते " (कुंअर कृष्णकुमार सिंह) , xxxxधु "मालिन " (साधुशरण पुण्य) आदि उपन्यास मिलते हैं , जिनमें दलित-चिंतन , दलित चेतना , दलित-विमर्श , दलित-जीवन तथा उसकी समस्याओं का यथार्थ आकलन मिलता है ।

प्रेमचन्दोत्तर काल को इतिहासकार सन् 1937 से 1947 तक मानते हैं । उसके बाद के काल को "स्वातंत्र्योत्तर काल" कहते हैं । स्वातंत्र्योत्तरकाल के दलित-चेतना संपन्न उपन्यासों में "मैला आंचल" (फणीश्वरनाथ रेणु) " मंगलोदय " (ब्रजभूषण) , "नदी के मोड़ पर" (दामोदरदास सदन) , "मोतिया" (रामकुमार भ्रमर) , " एक अकेला " (रामकुमार भ्रमर) "नयी बिसात " (श्रीचन्द्र अग्निहोत्री) , "एक टुकड़ा इतिहास " (गोपाल उपाध्याय) , " जल टूटता हुआ" , "सूखता हुआ तालाब " (डा. रामदरश मिश्र):, "सागर लहरें और मनुष्य " (उदयशंकर भट्ट) , "नाच्यौ बहुत गोपाल " (अमृतलाल नागर) , "रेतीला मोती" (राजकुमार त्रिवेदी) , "पुराण पुरुष " (डा. विवेकीराय) , " अलग अलग वैतरणी " (डा. शिवप्रसादसिंह) , " टपरेवाले " (कृष्णा अग्निहोत्री) , "मकान दर मकान " (बालादुबे) , "धरती धन न अपना" , नरक कुण्ड में बास " (जगदीशचन्द्र) , "महाभोज" (मन्नू भण्डारी), "नागवल्लरी" (शैलेश मटियानी) , "चानी" (सी. टी. खानोल-कर) , " छाकों की वापसी " (बदी उज्जमां) , " अमीना" (नरेन्द्र हरित) , " नदी का शोर " (, "अभिशाप " (डा. आरिगपूड़ी); "सबसे बड़ा छल" , "सोनभद्र की राधा" (मधुकरसिंह) ; "सीताराम नमस्कार" (मधुकरसिंह) , "एकलव्य" (चन्द्रमोहन प्रधान), "रामकली" , " गोपुली गफूरन" , "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई " ,

"चन्द औरतों का शहर " (शैलेश मटियानी) ; "आधागांव " (डा. राही मासूम रज़ा) , "बसंती" (भीष्म साहनी) , "मुर्दाघर " (जगदंबाप्रसाद दीक्षित) , " आग पानी आकाश" (रामधारी दिवाकर) आदि उपन्यासों की गणना कर सकते हैं ।[80]

इस तरह हम देख सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तरकाल में दलित-चेतना से संबंधित उपन्यासों की संख्या सबसे ज्यादा पायी जाती है । स्वातंत्र्योत्तरकाल में अदलित लेखकों के साथ-साथ कुछ दलित लेखकों की कृतियां भी पायी जाती हैं । कुछ दलित छद्म नाम और जातियों से लिख रहे हैं । यह एक अलग अनुसंधान का विषय है । मराठी में दलित साहित्य की जो अवधारणा और विभावना है , ऐसी विभावना अभी हिन्दी में बन नहीं पायी है ~~xxxxxx~~ तथापि कुछ लेखक इस दिशा में अग्रसर हैं । उपर्युक्त उपन्यासों में एक ओर जहां दलित-जीवन की व्यथा-कथा , उनकी पीड़ा , यंत्रणा और त्रासदी है ; वहां दूसरी ओर उभरते हुए नये स्वर भी सुनायी पड़ रहे हैं जो भविष्य की दिशाओं को आलोकित कर रहे हैं । इन उपन्यासों के अध्ययन से यह भी फलित होता है कि दलित जातियों का शोषण उच्चवर्गीय लोगों ने ही नहीं किया है , वरन इसमें उनके अपने लोग भी शामिल हैं । दलित वर्ग के जो लोग ऊपर उठ जाते हैं वे कई बार पुरानी सामंतवादी शैली को अपना लेते हैं । प्रायः देखा गया है कि दलितों के पिछड़ेपन के पीछे उनकी अशिक्षा और असंगठन भी उत्तरदायी है । यद्यपि इस प्रकार की परिस्थितियों का निर्माण धर्म और शास्त्र द्वारा अनुमोदित सामाजिक व्यवस्था के कारण ही हुआ है ।

उपर्युक्त उपन्यासों में अस्पृश्यता की समस्या , दलितों के अपमान की समस्या , उन पर होनेवाले अत्याचार और अन्याय की समस्या , दलित-स्त्रियों के यौन-शोषण की समस्या , दलित जातियों में भी संस्तरण (Hierarachy) की समस्या , छोटी जाति की स्त्री और ऊंची जाति के पुरुष के विवाह (~~xxxxxx~~

§हायपो मैरिज § से उत्पन्न समस्याएं , ऊंची जाति की स्त्री और निम्न जाति के पुरुष के विवाह से उत्पन्न समस्याएं , सवर्ण-दलित §9§ की मानसिकता जैसी अनेक समस्याओं को उकेरा गया है । धार्मिक समस्याओं के अन्तर्गत धर्म और अस्पृश्यता की समस्या , मंदिर-प्रवेश की समस्या , धर्म के नाम पर दलितों पर राजनीति करने की समस्या , दलित जातियों द्वारा हो रहे धर्मान्तरण की समस्या जैसी समस्याओं को भी यथार्थतः आकलित किया गया है । इनके अतिरिक्त संस्कारगत समस्याएं , शैक्षिक समस्याएं , मनोवैज्ञानिक समस्याएं जैसी समस्याओं के साथ-साथ दलित वर्ग की आशा-आकांक्षाओं को भी उकेरा गया है । इन उपन्यासों में अनेक स्थानों पर तटस्थता के साथ दलितों में पायी जाने वाली कमजोरियों को भी रेखांकित किया गया है ।

यहां एक तथ्य रेखांकित करना बहुत आवश्यक है कि आज़ादी के 56-57 वर्षों के उपरांत भी दूर-दराज के गांवों में दलितों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया है । अभी भी इन गांवों में अस्पृश्यता की समस्या वैसी ही बरकरार है । "नवभारत टाइम्स " के 2 सितम्बर 2004 के अंक में डा. चन्द्रभान प्रसाद के " एक लिबरेटेड तमिल गांव के आंसू" नामक लेख में बताया गया है कि तमिलनाडू के अधिकतर ग्रामीण बाजारों में चाय की दुकानों पर भी तीन तरह के गिलास होते हैं — एक दलितों के लिए , दूसरा गैर दलितों के लिए और तीसरा उनके लिए जिनकी जातिगत पहचान साफ नहीं है । चाय की दुकानों पर बेंच लगे होते हैं , पर गांव के दलित चाय खड़े होकर ही पीते हैं । कोई भी दलित गांव में नाई की दुकान पर बाल नहीं कटवा सकता । गांव के भीतर सायकल पर सवार होकर चले जाना मुसीबत मोल लेने से कम नहीं , गांव के मंदिर में प्रवेश का मतलब जातीय दंगा छिड़ जाना , गांव में किसी दलित युवक का

सिगरेट पीते हुए गुजर जाना किसी दुस्साहस से कम नहीं आंका जाता । तमिलनाडू की बसों में यदि "बन्नियार" (एक ओ. बी. सी. जाति) आते हैं तो दलितों को उठ जाना पड़ता है , फिर भले ही सीटें खाली हों ।[8] उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि अभी भी ~~इस क्षेत्र में~~ स्थितियों में बहुत ज्यादा अंतर नहीं आया है ।

हिन्दी नाट्य साहित्य में दलित चेतना :

कविता और उपन्यास की भाँति हिन्दी नाट्य-साहित्य में भी दलित-चेतना उपलब्ध होती है । जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित "चन्द्रगुप्त" और " जनमेजय का नाग यज्ञ " में जाति-भेद का उल्लेख मिलता है । "चन्द्रगुप्त" नाटक में नंद को वर्णशंकर बताया गया है । जब चाणक्य अपने पिता की खोज में लगे हुए थे तब एक प्रतिवेशी से उनकी भेंट होती है जो नंद की वर्णसंकरता का रहस्य खोलता है । नंद को महापद्म का जारज पुत्र बताया गया है । इस प्रकार प्रकारान्तर से उस युग में प्रवर्तित जातिभेद को स्पष्ट किया गया है । प्रसादजी के दूसरे नाटक "जनमेजय का नागयज्ञ " में नागजाति का जिक्र आता है । अर्जुन को ऐसा लगता है कि इस नाग जाति को प्रजा बनाना अत्यन्त कठिन है -- " झाड़ियों में छिपकर दस्युता करने वाली और गूंजान जंगलों में पशुओं के समान दौड़कर छिप जाने वाली इस नाग जाति को हम किसी रीति से अपनी प्रजा बनावें ?" अर्जुन के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत काल की यह कोई आदिवासी जाति रही होगी ।

यद्यपि हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द की गणना एक उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में होती है , तथापि "प्रेम की वेदी" नामक उनका एक नाटक भी मिलता है । प्रस्तुत नाटक में शूद्र और ब्राह्मण के भेद की चर्चा हुई है । इस नाटक की एक स्त्री पात्र उमा जैनी से कहती है -- " मेरा विचार है कि स्त्री परिवार

का मुख्य अंग है , इसलिए उसे बंधनों की ज्यादा जरूरत है । उसी लिए उसे शूद्रों की तरह किसी निशानी की जरूरत नहीं , ~~xxxxxxxx~~ पर द्विजों के लिए यज्ञोपवीत अनिवार्य है ।" [82] प्रस्तुत नाटक में यह ध्वनित हुआ है कि मनुष्य अपने जातिगत बंधनों को आसानी से नहीं छोड़ सकता । प्रस्तुत नाटक का योगराज अपने धार्मिक और जातीय बंधनों को तोड़कर जैनी से विवाह करने के लिए तैयार होता है , परन्तु जैनी ~~xx~~ जातीय बंधनों से डरती है । यथा — " नहीं , नहीं , मैं तुम्हें समाज में अछूत नहीं बनाना चाहती ।" [83] जैनी के इस कथन से प्रतीत होता है कि समाज में जातिगत बंधनों का प्रभाव बहुत प्रबल था । जैनी जातिगत बंधनों से बहुत डरती है । ऐसा लगता है कि प्रेमचन्दजी का यह नाटक उनके प्रारंभिक लेखन~~xx~~ को प्रकट करता है , क्योंकि प्रस्तुत नाटक की जैनी जहां जातिगत बंधनों से डरती है , वहां "गोदान" उपन्यास की सिलिया मातादीन पंडित से संबंध बनाने में किसी प्रकार की झिझक का अनुभव नहीं करती है ।

इस दृष्टि से बद्रीनाथ भट्ट द्वारा प्रणीत "वेन चरित्र" नामक नाटक को उल्लेखनीय कहा जा सकता है । इस नाटक में भट्टजी ने एक शूद्र को सम्मानित पद पर स्थापित किया है । नाटक का नायक वेनराज एक विद्रोही राजकुमार है । वह दलित वर्ग के अधिकारों के लिए अभिजात वर्ग का दमन भी करता है । अतः कालान्तर में जब वेन राजा का पद ग्रहण करता है तब जखीना को अपना मंत्री बनाता है । जखीना शूद्र वर्ग का प्रतिनिधि है और वह उनमें विद्रोह के भाव जगाता है । इस दृष्टि से हरिकृष्ण प्रेमी का " प्रेमी की शपथ " नामक नाटक भी उल्लेखनीय है । प्रस्तुत नाटक के आठवें दृश्य में जो संवाद उपलब्ध होते हैं उसमें दलित समस्या पर कुछ विमर्श उपलब्ध होता है । इस नाटक का मालू एक भील है । भीमदेव एक क्षत्रिय राजा है । वह समाज-स्वास्थ्य के लिए वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को अनिवार्य

मानता है । किसी चांडाल स्त्री के साथ हुए अत्याचार के संदर्भ में इन दोनों में जो वाद-विवाद होता है , वह दलित-विमर्श के कुछ पक्षों को उद्घाटित करने वाला है । भीमदेव वर्ण-व्यवस्था का पक्षधर है । मालू इस अन्यायमूलक व्यवस्था का घोर विरोधी है । इस नाटक की एक स्त्री पात्र सुहासिनी भी मालू की समर्थक है । हूण सैनिकों द्वारा रस्सी में बंधी हुई चांडाल स्त्री को मुक्त करने के लिए जब सुहासिनी आगे बढ़ती है तब भीमदेव कहता है — " वह चांडाल है , अस्पृश्य । " तब उसके उत्तर क्रम में सुहासिनी जो कहती है वह दलित-विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । यथा -- " चांडाल वे हैं जो मनुष्य को अस्पृश्य समझते हैं । नीच , नारकी , कुत्ते वे हैं जो आंखों से नारी का अपमान देखकर भी विचलित नहीं होते । "[84] इस तरह प्रस्तुत नाटक में मालू और सुहासिनी के पात्रों द्वारा लेखक ने दलित-चेतना का व्यंजित किया है ।

इसके अतिरिक्त हरिकृष्ण प्रेमी के ही "नयी राह " , सेठ गोविन्ददास कृत नाटक "कुलीनता" , आचार्य चतुरसेन द्वारा प्रणीत नाटक " गांधारी" , "शबरी" (आचार्य सीताराम चतुर्वेदी), "पहला राजा (जगदीशचन्द्र माथुर) , "तुलसीदास" (जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी) , " नये हाथ" (विनोद रस्तोगी) , "समाज" (धनानंद बहुगुणा) , "नजर बदली बदल गये नजारे " (राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह) , "देवकन्या " (पं. श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण मिश्र) "अछूत " (आनंदप्रसाद श्रीवास्तव) तथा "नीच" (नरेन्द्र) आदि नाटकों में दलित-विमर्श या दलित-चेतना की बात किसी-न-किसी रूप में आयी है ।

हिन्दी के एकांकी साहित्य में दलित-विमर्श :

यद्यपि एकांकी की गणना भी नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत ही होती है , तथापि पिछले पचास - सौ वर्षों में बड़े नाटकों की तुलना में एकांकी नाटकों का प्रचलन बहुत ज्यादा

बढ़ गया है । सामाजिक , धार्मिक , राजनीतिक आंदोलन , नये वैचारिक प्रवाह , क्रान्तिकारी विचारधाराएं आदि के समुचित संवाहक के रूप में एकांकी नाटक जितना प्रभावशाली साबित हो सकता है उतना बड़ा नाटक नहीं । दूसरे इधर स्कूज-कालेज के साहित्यिक , सांस्कृतिक समारोहों में भी एकांकी नाटकों की मांग बढ़ रही है । यहां पर एक बात ध्यातव्य रहे कि हमारे यहां प्राचीन काल में भाण , व्यायोग , अंक , वीथी , प्रहसन आदि एक अंक के नाटक उपलब्ध होते थे , परन्तु आज जिसे हम एकांकी कहते हैं उसका उद्भव आधुनिक काल में हुआ । पश्चिम में इन एकांकी नाटकों का प्रचलन "पटोत्तोलक " (करटेन रेजर्स) के रूप में हुआ था । सन् **19 1903 में डबल्यू. डबल्यू. चेकब्स की कहानी "मंकिजपा" को ***** " करटेन रेजर " के रूप में प्रस्तुत किया गया । लोग इससे इतने प्रभावित हुए कि मूल नाटक को देखे बिना ही नाट्य-गृह से बाहर ** निकल आये । इस घटना ने "कर्टन रेजर " को एकांकी बना दिया । [85]

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है एकांकी वैचारिक आंदोलन का एक सशक्त माध्यम है और आधुनिक काल के प्रमुख मुद्दों में दलित-विमर्श का मुद्दा भी एक अहम मुद्दा है । अतः उका एकांकियों में उभरकर आना स्वाभाविक ही कहा जायेगा । दलित-विमर्श के उल्लेखनीय एकांकियों में " अर्द्धजाग्रत " (सेठ गोविन्ददास) , "पश्चाताप " (हरिकृष्ण प्रेमी) , " मंदिर के द्वार पर " (उदयशंकर भट्ट) , "चौपाल में " (भगवतीचरण वर्मा) , "सब है समान " (विष्णु प्रभाकर) , "रात चांद और कुहर " (विष्णु प्रभाकर) , " औलादी का बेटा " (लक्ष्मीनारायण लाल) आदि की परिगणना कर सकते हैं ।

सेठ गोविन्ददास द्वारा लिखित एकांकी " अर्द्धजाग्रत " में कांग्रेस द्वारा ऊंच-नीच , जाति-पांति आदि के भेदों को दूर

करने के लिए जो स्वांग रचा गया उसका पर्दाफाश लेखक ने किया । "मंदिर के द्वार पर" एकांकी में छमिया चमारिन नामक एक दलित-स्त्री की तेजस्विता का चित्रण हुआ है । मंदिर पर जब कुछ मुसलमानों द्वारा हमला होता है , तब छमिया का बेटा हरि तथा दूसरे चमार मिलकर उसकी रक्षा करते हैं । एकांकी में कठोर वक्राक्ति (ड्रामेटिक आइरनी) का निर्माण तब होता है जब इन्हीं चमारों के मंदिर-प्रवेश को लेकर प्रश्न उपस्थित किये जाते हैं । "चौपाल में " एकांकी में कांग्रेसी कार्यकर्ता रामनारायण जो पं. सत्यनारायण का बेटा है , ब्राह्मणों और ठाकुरों को बंशी मेहतर के हाथ का बना खाना खिलाता है । विष्णु प्रभाकर के एकांकी में " सब है समान" में होटलों में बरती जानेवाली छुआछूत पर प्रकाश डाला गया है । होटल में एक दलित-प्रवेश को लेकर बावेला मचता है , तब मालिक पहले तो होटल को धुलवाता है , किन्तु बाद में उसका हृदय-परिवर्तन होता है और वह उद्घोषणा करता है कि आज से इस होटल में सब मनुष्यों को आने की अनुमति होगी । प्रभाकरजी के ही अन्य एकांकी में "रात चांद और कुहर" में ब्राह्मण और चमार के बीच अन्तर्जातीय विवाह संपन्न करवाया गया है । लक्ष्मीनारायण लाल कृत "औलादी का बेटा" नामक एकांकी में जातिगत विषमता की समस्या को चित्रित किया गया है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि कविता , उपन्यास और नाटक की भांति एकांकी विधा में भी दलित-विमर्श का चित्रण बहुत ही शक्तिशाली ढंग से किया गया है ।

निबंध तथा रेखाचित्र आदि में दलित-विमर्श :

अन्य विधाओं की भाति हिंदी निबंध निबंध विधा में भी दलित-जीवन के कई संदर्भ मिलते हैं । निरालाजी के निबंध " चरखा" में उन्होंने भारतीय और यूरोपीय जाति-प्रथा के अन्तर को स्पष्ट किया है । इसी निबंध में उन्होंने यह आशा अभिव्यक्त की है कि हमारे यहां एक जाति का दूसरी जाति के बारे में जो अज्ञान है उसे बुद्धिमान लोग शिक्षा के द्वारा दूर कर सकते हैं । निरालाजी के

एक अन्य निबंध " अधिकार-समस्या " में वे एक नया विचार प्रस्तुत करते हैं कि दलित लोग भी कर्मानुसार ब्राह्मण , क्षत्रिय और वैश्य बन सकते हैं । निरालाजी के ये विचार सिद्धान्ततः तो बड़े अच्छे लगते हैं किन्तु क्या हमारे देश और समाज में ऐसा कभी संभव होगा ? महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति (सन् 1998-2001) डा अनिल काणे की इस संदर्भ में एक अजीबो-गरीब स्थापना है । दुनियाभर के इतिहासकार और विद्वान यह मानते हैं कि कि वर्णों के द्वारा जातियों की उत्पत्ति हुई , किन्तु डा काणे का अभिमत है कि पहले जातियां आती हैं फिर वर्ण । किसी भी व्यक्ति का इस पर तो बस नहीं है कि वह कौन-सी जाति में जन्म लेगा क्योंकि वह तो पूर्व-जन्म के कर्मों पर आधीन है , किन्तु जाति के बाद वर्ण का चुनाव तो व्यक्ति स्वयं कर सकता है और अपने कर्मानुसार वह ब्राह्मण , क्षत्रिय या वैश्य बन सकता है । डा. काणे की बात का निरालाजी की बात से कुछ-कुछ मेल खाता है । किन्तु यहां की आबहवा से परिचित कोई भी व्यक्ति कहेगा कि ऐसा होना हमारे देश में संभव नहीं है । क्योंकि हमारी धार्मिक सोच में ही यह जातिगत भेदभाव ऐसा घुल गया है कि उसका इस तरह से निकलना मुश्किल ही लगता है । डा. बाबासाहब अम्बेडकर बिलकुल सही कहते हैं कि ब्राह्मण विद्वान होते हैं , किन्तु मनीषी नहीं । विद्वान और मनीषी में बड़ा अन्तर होता है । मनीषी मनस्वी होता है और वह मानवीय सरोकारों के सामने अपने वर्गीय हितों की परवाह नहीं करता , दूसरी ओर विद्वान और पंडित अपने वर्गीय हितों से कभी ऊपर नहीं उठ सकता[86] । डा. अनिल काणे ब्राह्मण है और अतस्व अपने विद्वतापूर्ण चातुर्य से स्वतः बाबासाहब की बात की पुष्टि करते हैं ।

इस दिशा में महापंडित राहुल सांकृत्यायन की निबंधात्मक रचना " भागो नहीं दुनिया को बदलो " अत्यन्त महत्वपूर्ण

है । यह रचना समाजवादी-मार्क्सवादी विचारों के तहत लिखी गयी है । इसका उद्देश्य सामाजिक समता को स्थापित करना है ।

महादेवी वर्मा ने अपने रेखाचित्रों में दलित-जीवन को स्थान दिया है । उनके "अतीत के चलचित्र" नामक रेखाचित्र-संग्रह में "सबिया" नामक पात्र का संदर्भ आता है । इस संदर्भ में वे कहती हैं — " "सबिया" न शबनम का संक्षिप्त है, न शबरात का । वह तो हमारे पौराणिक सावित्री का अपभ्रंश है । पर सच कहें तो कहना होगा कि या तो हमारे उदार आर्यत्व ने ही दयार्द्र होकर ही, हरिजनों में भी निकृष्टतम जीव को इस संज्ञा की छाया में पवित्र होने की अनुमति दे डाली या सबिया की परंपरा के अनुसार स्वर्गगत परन्तु यथार्थ में नरकगत माता-पिता चतुर पाकेटमार के समान सबकी आँख बचाकर इस नामनिधि को उड़ा लाए ।" 87
इस रेखाचित्र में लेखिका ने हमारे सनातनी लोगों की दलितों के प्रति जो संकुचित वृत्ति है उसका उपहास किया है । महादेवीजी के ही अन्य रेखाचित्र संग्रह " स्मृति की रेखाएं " में "धीसा " नामक एक आदिवासी बालक की कथा मिलती है । इस रेखा-चित्र में लेखिका ने गांव के आदिवासी लोगों की भीषण दरिद्रता का चित्र उपस्थित किया है । "धीसा" और "धीसा की मां " ये दोनों पात्र हमें यह सोचने पर विवश करते हैं उच्च मानवीय भावों का निवास किसी जाति-विशेष की बपौती नहीं है । कर्दम-कीचड़ में भी "धीसा" से कमल खिल सकते हैं और खिले हैं ।

आत्मकथाओं में ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा "जूठन" तथा मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा " अपना पिंजरा" दलित आत्मकथाओं को मराठी दलित-साहित्य की आत्मकथा के समकक्ष रख देता है ।

इस प्रकार हम देखें तो हिन्दी साहित्य के आधु-निक काल में दलित-विमर्श की सर्वप्रथम पहचान हमको मिलती है

और साहित्य की लगभग तमाम विधाओं — गद्य और पद्य — कविता, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, आत्म-कथा, रिपोर्ताज — में हमें दलित-विमर्श से सम्बद्ध साहित्य उपलब्ध होता है। यहाँ पर हिन्दी कहानी-साहित्य का उल्लेख हमने नहीं किया है, क्योंकि प्रस्तुत प्रबंध कहानी विधा को लेकर है और परवर्ती अध्यायों में हिन्दी कहानी में जो दलित-विमर्श प्राप्त हुआ है उसका विस्तृत-विश्लेषणात्मक विवेचन करने का हमारा उपक्रम रहेगा।

निष्कर्ष :
======

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं :—

§1§ वैदिक धर्म के जटिल कर्मकांड के कारण बौद्धधर्म आया। बौद्धधर्म की हीनयान शाखा से मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि सम्प्रदाय निःसृत होते हैं। सिद्धों का संबंध इन्हीं सम्प्रदायों से है। और हिन्दी साहित्य में "दलित-विमर्श" का प्रारंभ भी इन्हीं सिद्ध कवियों से माना जाता है।

§2§ सिद्धों ने निरीश्वरवादी शून्य की चर्चा की है और वे हिन्दू धर्म में व्याप्त बाह्याचारों, बाह्याडंबरों और वर्ण-व्यवस्था तथा जातिप्रथा का विरोध करते हैं। पैतृक-व्यवसाय परंपरा और परंपरागत विवाह-पद्धति पर भी उन्होंने व्याघात किया है। सिद्धों के प्रतिनिधि कवि सरहपा ब्राह्मण होते हुए भी एक सर बनाने वाले की कन्या से विवाह करते हैं और इस प्रकार स्थापित ब्राह्मणवादी मूल्यों के खिलाफ वे विद्रोह का बिगुल फूंक देते हैं।

§3§ सिद्धों के पश्चात् नाथ आते हैं। नाथों में भी

जातिप्रथा का विरोध मिलता है , धर्म के बाह्य अनुष्ठानों का विरोध मिलता है , मंदिर और मूर्तिपूजा का विरोध मिलता है । सिद्धों के निरीश्वरवादी शून्य को उन्होंने ईश्वरवादी शून्य के रूप में परिवर्तित किया है , परन्तु उनका ईश्वर निरंजन , निराकार और अजन्मा है । परवर्ती काल के कबीर आदि संत-कवियों की काव्य-भूमि की पृष्ठभूमिका निर्माण नाथों के साहित्य में हुआ है ।

§4§ नाथों के बाद भक्तिकाल के संत-काव्य में हमें दलित-विमर्श पुष्कल प्रमाण में मिलता है । संत-काव्य के प्रतिनिधि कवि कबीर है , जिन्होंने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को , उनके ढोंग-ढकोसलों के लिए बुरी तरह से फटकारा है । कबीर को हम प्रथम सामाजिक न्याय § सोशल जस्टिस § का कवि भी कह सकते है । कबीर ने धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर इन्सान और इन्सान के बीच खींची गयीं दीवारों को ढहाने का काम किया है । कबीरदास के उपरान्त रैदास , नानक , दादूदयाल , मलूकदास , गरीबदास , जगजीवनदास , पल्टूदास , बुल्लासाहब , दयाबाई , सहजोबाई , फरीद आदि सन्त कवि हुए हैं , जिन्होंने भी कबीर की भांति धर्म के बाह्य विधि-विधानों और ढकोसलों का विरोध किया है ।

§5§ भक्तिकाल के अन्तर्गत संतकाव्य को आज के दलित-साहित्य से जोड़ा जा सकता है , क्योंकि इनके अधिकांश कवि निम्न और पिछड़ी जातियों के है ।

§6§ भक्तिकाल के निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों के के अतिरिक्त रामभक्ति शाखा के नाभादास , कृष्णभक्तिशाखा के सूरदास , कृष्णदास , मीराबाई आदि ने कहीं-कहीं स्थापित जीवन-मूल्यों के प्रति विद्रोह-भाव व्यक्त किया है ।

§7§ जहां तक दलित-विमर्श का संबंध है रीतिकाल को

हम एक ह्रासोन्मुखी काल कह सकते हैं । यहां श्रृंगारिकता की प्रधानता के कारण सामाजिक सरोकार हाशिये पर चले गये हैं ।

§8§ दलित-विमर्श की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल महत्वपूर्ण है । सचमुच के स्वर्णयुग का प्रारंभ तो यहां से होता है । नवजागरण काल § इण्डियन रेनेसां § के प्रमुख दो मुद्दे हैं — नारी विमर्श और दलित-विमर्श । आधुनिक काल के लगभग सभी रूपों से दलित विमर्श उपलब्ध होता है । आधुनिक काव्यधारा में मैथिलीशरण गुप्त , सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला , सुमित्रानंदन पंत , रामकुमार वर्मा , उदयशंकर भट्ट , रामधारी-सिंह दिनकर , जगदीश गुप्त , पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी , श्योराजसिंह , डा. कुसुम वियोगी , हेमलता महेश्वरी , अशोकचक्रधर , ओमप्रकाश वाल्मीकि , मलखानसिंह , राजेश चन्द्रा आदि कवियों की रचना में कहीं मंद-स्वरूप तो कहीं प्रखर रूप में दलित-विमर्श उभरकर आया है ।

§9§ हिन्दी उपन्यास में दलित-विमर्श का प्रारंभ प्रेमचन्द-काल से माना जाता है । प्रेमचन्दकालीन दलित-चेतना के उपन्यासों में "बुधुआ की बेटी" § पांडेय बेचन शर्मा "उग्र" § , रंगभूमि , कर्मभूमि, गोदान § प्रेमचन्द § ; निरूपमा , कुल्ली भाट § निराला § ; अंतिम आकांक्षा § सियारामशरण गुप्त § आदि उपन्यास आते हैं ।

§10§ प्रेमचन्दोत्तरकाल के दलित-चेतना संपन्न उपन्यासों में गोली § आचार्य चतुरसेन शास्त्री § , कब तक पुकारूं § डा. रांगेय राघव § , सरकार तुम्हारी आंखों में § पांडेय बेचन शर्मा "उग्र" § , जुनिया § गोविन्दवल्लभ पंत § , पीले पत्ते § कुंवर कृष्णकुमार सिंह § आदि ~~xxxxxxxxxx~~ की गणना कर सकते हैं ।

§11§ स्वातंत्र्योत्तरकाल में दलित-चेतना के लगभग 25-30 उपन्यास प्राप्त होते हैं जिनमें एक टुकड़ा इतिहास §गोपाल

उपाध्याय), जल टूटता हुआ (डा. रामदरश मिश्र), अलग अलग वैतरणी (डा. शिवप्रसादसिंह), नाच्यौ बहुत गोपाल (अमृतलाल), धरती धन न अपना (जगदीशचन्द्र), महाभोज (मन्नू भण्डारी), मुर्दाघर (जगदंबाप्रसाद दीक्षित), आग पानी आकाश (रामधारीसिंह दिवाकर), जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि), अपने अपने पिंजरे (मोहनदास नेमिशराय), अल्मा कबूतरी (मैत्रेयी पुष्पा) आदि मुख्य हैं ।

(12) हिन्दी के नाट्य-साहित्य में भी दलित-चेतना प्राप्त होती है । दलित-विमर्श की दृष्टि से "जनमेजय का नागयज्ञ" (प्रसाद), " प्रेम की वेदी " (प्रेमचन्द), "सेन चरित्र " (बद्रीनाथ भट्ट), "प्रेमी की शपथ " (हरिकृष्ण प्रेमी), "नयी राह " (सेठ गोविन्ददास), "गांधारी" (आचार्य चतुरसेन शास्त्री), " नये हाथ " (विनोद रस्तोगी), "अछूत " आनंदप्रसाद), आदि नाटक उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं ।

(13) एकांकी की गणना नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत ही होती है । हिन्दी एकांकियों में भी दलित विमर्श उभरकर आया है । दलित-विमर्श की दृष्टि से उल्लेख्य एकांकियों में "अर्द्ध जागृत " (सेठ गोविन्ददास), " पश्चाताप " (हरिकृष्ण प्रेमी), "मंदिर के द्वार पर " (उदयशंकर भट्ट) "चौपाल में " (भगवतीचरण वर्मा) , " रात चांद और कुहर (विष्णु प्रभाकर), "औलादी का बेटा " (लक्ष्मीनारायण लाल) आदि की गणना कर सकते है ।

(14) इनके अतिरिक्त निबंध , रेखाचित्र , आत्मकथा जैसी विधाओं में भी दलित-विमर्श उपलब्ध होता है । कहानियों की चर्चा यहां इसलिए नहीं हुई है क्योंकि परवर्ती अध्यायों में उन पर विस्तृत विवेचन होगा ।

======= XXXXXX ========

: सन्दर्भानुक्रम :

§1§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डा. बलवंत साधू जाधव : पृ. 55 ।

§2§ हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 11

§3§ अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा. मोहब्बत-सिंह चौहान तथा डा. प्रागसिंह बैस : पृ. 29-30 ।

§4§ हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 12-13

§5§ उद्धृत द्वारा : डा. रामप्रसाद मिश्र : " दलित साहित्य : साहित्यिक और सांस्कृतिक निबंध : पृ. 85 ।

§6§ वही : पृ. 85 ।

§7§ वही : पृश 44 ।

§8§ चिन्तनिका : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 12 ।

§9§ वही : पृ. 13 ।

§10§ वही : पृ. 13 ।

§11§ वही : पृ. 13 ।

§12§ वही : पृ. 13 ।

§13§ उद्धृत द्वारा : डा. पारूकान्त देसाई : चिंतनिका : पृ. 15 ।

§14§ वही : पृ. 13 ।

§15§ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 20 ।

§16§ वही : पृ. 21 ।

§17§ द्रष्टव्य : संतप्रिया : डा. रमणलाल पाठक ।

§18§ द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : पृ. 28 ।

§19§ हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान : डा. अंबाशंकर नागर अभिनंदन ग्रन्थ : पृ. 94-97 ।

§20§ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : पृ. 28 ।

§21§ द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास : प्रेमचन्दोत्तरकाल " : डा. रामशोभितप्रसाद सिंह : पृ. 159 ।

§22§ द्रष्टव्य : उदाहरण /1/ से /7/ : अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा. मोहब्बतसिंह चौहान : पृ. 75-81 ।

§23§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डा. बलवंत साधू जाधव : पृ. 62 ।

§24§ वही : पृ. 62 ।

§25§ वही : पृ. 62 ।

§26§ द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 39 ।

§27§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 85 ।

§28§ वही : पृ. 85 ।

§29§ वही : पृ. 86 ।

§30§ वही : पृ. 87-88 ।

§31§ वही : पृ. 88 ।

§32§ "दलित साहित्य : साहित्यिक और सांस्कृतिक संदर्भ निबंध " डा. रामप्रसाद मिश्र : पृ. 51 ।

§33§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 88 ।

§34§ वही : पृ. 88 ।

§35§ वही : पृ. 89 ।

§36§ वही : पृ. 89 ।

§37§ द्रष्टव्य : हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि : डा. सुरेश अग्रवाल : पृ. 233 ।

§38§ एकलव्य § खण्डकाव्य § : डा. रामकुमार वर्मा : भूमिका से ।

§39§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 89 ।

§40§ वही : पृ. 90 ।

§41§ वही : पृ. 90 ।

§42§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डा. बलवंत साधू जाधव :
××× पृ. 90 ।
§43§ वही : पृ. 90-91 ।
§44§ वही : पृ. 91 ।
§45§ वही : पृ. 91 ।
§46§ वही : पृ. 91 ।
§47§ वही : पृ. 91 ।
§48§ वही : पृ. 91 ।
§49§ वही : पृ. 91 ।
§50§ शम्बूक § खण्डकाव्य § : जगदीश गुप्त : पृ. 50 ।
§51§ वही : पृ. 49 ।
§52§ वही : पृ. 62 ।
§53§ वही : पृ. 2 ।
§54§ वही : पृ. 48 ।
§55§ वही : पृ. 50-51 ।
§56§ " दलित साहित्य : साहित्यिक और सांस्कृतिक निबंध :
डा. रामप्रसाद मिश्र : पृ. 55 ।
§57§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 55-59 ।
§58§ वही : पृ. 38-39 ।
§59§ वही : पृ. 39 ।
§60§ वही : पृ. 39 ।
§61§ वही : पृ. 39 ।
§62§ वही : पृ. 40 ।
§63§ वही : पृ. 40 ।
§64§ वही : पृ. 64 ।
§65§ वही : पृ. 41 ।
§66§ वही : पृ. 41-42 ।
§67§ वही : पृ. 60-61 ।

§68§ कविता के सौ बरस : सं. डा. लीलाधर मंडलोई : पृ. 530 ।

§69§ वही : पृ. 530 ।

§70§ वही : पृ. 530 ।

§71§ " बस्स । बहुत हो चुका " : काव्य-संग्रह : ओमप्रकाश वाल्मीकि : xx प्रथम फ्लेप से ।

§72§ वही ।

§73§ वही : पृ. 79-80 ।

§74§ वही : पृ॰ 78 ।

§75§ हंस : सत्ता-विमर्श और दलित विशेषांक : अगस्त : 2004 : पृ. 190 ।

§76§ मानसमाला : डा. पारूकान्त देसाई ।

§77§ हंस : अगस्त-2004 : पृ. 192 ।

§78§ वही : पृ. 191 ।

§79§ गोदान : प्रेमचन्द : पृ. 263 ।

§80§ विस्तार के लिए देखिए : दलित चेतना से अनुप्राणित हिन्दी उपन्यास : डा. एन.एस. परमार ।

§81§ द्रष्टव्य : नवभारत टाईम्स : दिनांक : 2-9-04 : पृ. 6 ।

§82§ उद्धृत द्वारा : प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डा. बलवंत साधू जाधव : पृ. 74 ।

§83§ और §84§ : वही : पृ. क्रमशः 74 , 75 ।

§85§ द्रष्टव्य : समीक्षायण : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 107-113

§86§ द्रष्टव्य : डा. बाबासाहब अम्बेडकर : पूर्ण अक्षर देह : ग्रन्थ-14 : §गुजराती § पृ. 3 ।

§87§ उद्धृत द्वारा : डा. बलवंत साधू जाधव : प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 73 ।

====== xxxxxx =======